जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 2 • फरवरी, 2005

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 I Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 ● फरवरी, 2005 ● अंक 2

प्रसंग

5
शुभू पटवा
मर्यादामय महाप्रज्ञ

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
जब साधना संघबद्ध हो

11
डॉ. संपूर्णानंद
प्रमा : शुद्ध ज्ञान का नाम

16
डॉ. बच्छराज दूगड़
मर्यादाविहीनता के उजाड़

अनुभूति

21
युवाचार्यश्री महाश्रमण
प्रकृत्या पुरुषो महान

23
साध्वी विमलप्रज्ञा
इन रत्नों के आगे फीकी है आभा उनकी

27
साध्वी विश्रुतविभा
शिरसि गुरुपाद प्रणमनम्

29
कहानी
ए. आर. कृष्णशास्त्री
गुरु की महिमा

38
कविता
अज्ञेय की कविताएं

शीलन

41
साध्वी अशोकश्री
अप्रतिम प्रतिभा की कीर्ति-कथा

44
साध्वी श्रुतयशा
परार्थ व्याप्रतिवैयावृत्यं

49
समणी सत्यप्रज्ञा
मर्यादा है त्राण : मर्यादा ही प्राण

53
बालकथा
गोपालदास
एक महल एक झोंपड़ी

●
आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

स्वामी बताए तो तेले का प्रायश्चित्त

भारमलजी स्वामी बाल-मुनि थे, तब स्वामीजी ने कहा—'कोई गृहस्थ खामी बतलाए, ऐसा काम तुझे नहीं करना चाहिए। गृहस्थ खामी बतलाए वैसा काम यदि तू करेगा, तो एक तेले का प्रायश्चित्त करना होगा।'

तब भारमलजी स्वामी बोले—'यदि कोई झूठ-मूठ खामी बतला दे, तो?'

तब स्वामीजी ने कहा—'कोई झूठ-मूठ खामी बतलाए, तो समझ लेना पहले किए हुए पाप उदय में आए हैं।'

भारमलजी स्वामी बड़े विनीत थे। उन्होंने स्वामीजी का वचन शिरोधार्य कर लिया। ऐसे विनीत और उत्तम पुरुष होते हैं, वे किसी को खामी बताने का अवसर ही कैसे देंगे?

नींद में गिर जाऊं तो

स्वामीजी ने बाल-मुनि भारमलजी को यह आज्ञा दी—'तुम खड़े-खड़े (कंठस्थ) समग्र उत्तराध्ययन सूत्र का पुनरावर्तन किया करो।'

तब भारमलजी स्वामी बोले—'स्वामीनाथ! कदाचित नींद में नीचे गिर जाऊं, तो?'

तब स्वामीजी ने वापस कहा—'कोने का प्रमार्जन कर, उसके सहारे खड़े रहो।'

इस प्रकार भारमलजी स्वामी ने अनेक बार समग्र उत्तराध्ययन सूत्र का स्वाध्याय किया। ऐसे थे वे वैरागी पुरुष!

ऐसे हैं ये दृढ़धर्मी

आसकरण दांती ने विजयचंदजी पटवा से कहा—'विजयचंदजी! तुम्हारे गुरु भीखणजी किंवाड़ खोल मेड़ी में ठहरे।'

यह सुनकर विजयचंदजी बोले—'मेरे गुरु इस प्रकार नहीं ठहरते।'

तब आसकरणजी ने कहा—'भाई विजयचंद! मेरा विश्वास तो कर।'

तब विजयचंदजी बोले—'तुम्हारा पूरा विश्वास है, तुम सदा झूठ बोलते हो।' ऐसा कहकर उसे पराभूत कर दिया। साधुओं के पास जाकर उन्हें पूछा तक नहीं।

यह बात स्वामीजी के कानों तक पहुंची, तब स्वामीजी बोले—'ऐसा लगता है, मानो विजयचंदजी पटवा क्षायक सम्यक्त्व के धनी हैं। कुछ लोग साधुओं में अनेक दोष बतलाते हैं, इन्हें सुनाते हैं, पर वे उन दोषों के बारे में साधुओं को पूछते तक नहीं। ऐसे हैं वे दृढ़धर्मी। •

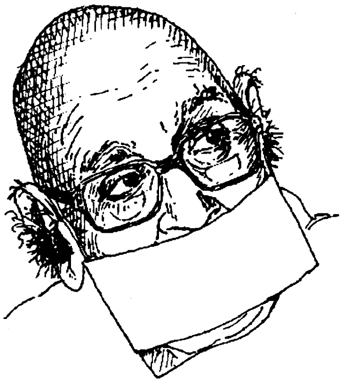

मनुष्य चाहता है—उसका रूप नया हो। नवीनता सबको आकृष्ट करती है। आज आदमी पुराना पड़ गया है। वह सब तरह से घिसा-पिटा हो गया है। उसे काट-छांटकर ठीक करना संभव नहीं लगता। इस दृष्टि से नए मानव के जन्म की बात मन को अच्छी लगती है, पर जिस संदर्भ में मैंने नए मनुष्य की चर्चा की है, उसका संबंध उसके रंग-रूप या आकार-प्रकार से नहीं है। नए से मेरा अभिप्राय है—चिंतन की नवीनता, सृजनशीलता, वर्चस्व और विधायक दृष्टिकोण वाला मानव। इन विशिष्टताओं से संपन्न मनुष्य को पैदा करना शायद किसी के वश की बात नहीं है, पर ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।

—आचार्यश्री तुलसी

अपने भीतर की दुनिया में प्रवेश पाने की पद्धति है—प्रेक्षाध्यान। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों से व्यक्ति अनेक अवांछनीय वृत्तियों से छुटकारा पा लेता है। आत्मदर्शन की सुंदर पद्धति है—प्रेक्षाध्यान।

व्यक्ति जब अपने-आप को देखना प्रारंभ करता है तो परिष्कार का दरवाजा खुल जाता है। प्रतिक्रमण परिष्कार और परिशोधन का ही मार्ग है। व्यक्ति प्रतिदिन स्नान करता है। स्नान करने से मैल धुलता है तथा शरीर व मन—दोनों तरोताजा हो जाते हैं। ध्यान भी एक प्रकार का स्नान हैं। राग और द्वेष के ताप को शांत करने के लिए प्रतिदिन ध्यान आवश्यक है। ध्यान के द्वारा भावों की शुद्धि होती है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

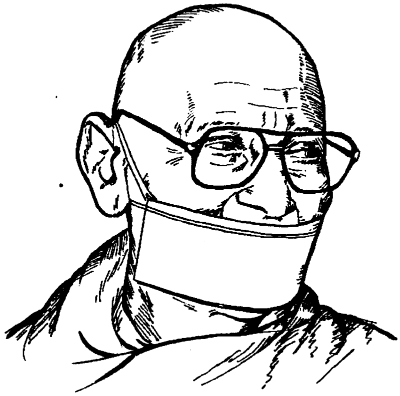

हमारा शरीर एक दर्पण है। इस दर्पण में मन के भाव प्रतिबिंबित होते रहते हैं। हम भावों को देखकर अदृश्य को भी देख लेते हैं। जो दूर है, उसे भी पहचान लेते हैं। जहां तक हमारी पहुंच नहीं होती, इस दर्पण के प्रतिबिंबों के द्वारा वहां तक पहुंच जाते हैं। जब देखते हैं, आंखों में एक भाव तैरता है। आंख को देखते हैं और भाव तक पहुंच जाते हैं। जब देखते हैं कि आंख में से कुछ टपक रहा है, हम प्रियता के भाव तक पहुंच जाते हैं। आंखों में देखते हैं, आकृति में देखते हैं। यह समूची आकृति कितना स्वच्छ दर्पण है कि उसमें भीतर का सब-कुछ प्रतिबिंबित हो जाता है। यदि यह आकृति नहीं होती तो शायद भावों को जानने का हमारे पास कोई माध्यम नहीं होता। आकृति को देखकर जान जाते हैं कि आदमी क्रुद्ध है। आकृति को देखकर जान जाते हैं कि आदमी क्षमारत है, सहिष्णु है। क्रोध और क्षमा—दोनों हमारे सामने प्रकट नहीं होते। क्योंकि सहिष्णुता और क्रोध—दोनों इस शरीर के धर्म नहीं हैं। वे जहां जन्म लेते हैं और प्रकट होते हैं, उनका स्थान कोई दूसरा है। हमारे सारे भाव सूक्ष्म जगत् में जन्म लेते हैं और इस स्थूल शरीर में प्रतिबिंबित होते हैं। एक है हमारा प्रतिबिंब का जगत् या प्रतिबिंबों को पकड़ने का जगत और दूसरा है हमारे भावों के जन्म लेने का जगत्। हमारी यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। स्थूल को छोड़ते हैं तब सूक्ष्म की ओर यात्रा शुरू करते हैं। हम स्थूल-शरीर को छोड़कर भाव-शरीर तक पहुंच जाते हैं। लेश्या तक पहुंच जाते हैं। लेश्या से भी आगे यात्रा शुरू करते हैं तो अध्यवसाय तक पहुंच जाते हैं। अध्यवसाय से आगे यात्रा शुरू करते हैं तो कषाय तक पहुंच जाते हैं। कषाय से आगे यात्रा शुरू करते हैं तो परमतत्त्व—आत्मा तक पहुंच जाते हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

मर्यादामय महाप्रज्ञ

मैं मुनि हूं। आचार्यश्री तुलसी का वरदहस्त मुझे प्राप्त है। मेरा मुनिधर्म जड़-क्रियाकांड से अनुस्यूत नहीं है। मेरी आस्था उस मुनित्व में है जो बुझी हुई ज्योति न हो। मेरी आस्था उस मुनित्व में है, जहां आनंद का सागर हिलोरें भर रहा हो। मेरी आस्था उस मुनित्व में है, जहां शक्ति का स्रोत सतत प्रवाही हो।

इस मुनित्व को पचहत्तर वर्ष पूरे हो जाने वाले हैं। ये हैं मुनि नथमल, जो आज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के रूप में जाने जाते हैं। भारतीय मनीषा के शलाकापुरुष के रूप में जिनकी सर्वमान्य प्रतिष्ठा है। एक धर्म-संघ के अधिष्ठाता के रूप में असंख्य सिर जिनके सामने नत रहते हैं, तो एक साधक, दार्शनिक-मनीषी के रूप में असंख्य कर श्रद्धापूर्वक बद्ध देखे जा सकते हैं। सांप्रदायिक संकीर्णताओं से सर्वथा मुक्त यह मुनि सचमुच 'जड़ क्रियाकांड से अनुस्यूत' नहीं है। अपनी मर्यादाओं के प्रति सदा सजग यह मुनि मर्यादा की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए उसका बेझिझक अतिक्रमण करने में भी कोई संकोच नहीं करते। तभी तो कहते हैं—'मैं एक परंपरा का अनुगमन करता हूं, किंतु उसके गतिशील तत्त्वों को स्थितिशील नहीं मानता।'

इस मुनि-साधक के पचहत्तर वर्ष इसी माघ शुक्ला दशमी (18 फरवरी, 2005) को पूरे हो रहे हैं। संयम और साधना का यह दिन अमृतोत्सव कहा जा सकता है। संयम का यह 'अमृत-महोत्सव' एक विरल घटना है। इसलिए विरल है कि साधना के स्तंभ भगवान महावीर भी संयम के पचहत्तर वर्ष-पर्याय न पा सके। तेरापंथ के आदि-पुरुष आचार्य भिक्षु के जीवन में भी यह विरल घटना घटित न हो सकी और न मुनि नथमल के दीक्षा-गुरु आचार्य कालूगणी और न शिक्षा-गुरु आचार्य तुलसी के संयम-काल का 'अमृत-महोत्सव' इस धरती पर संभव हो सका। ये सभी इतिहास-पुरुष हैं और मुनि नथमल और आज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इन इतिहास-पुरुषों की परंपरा को निरंतर गतिशील बनाते हुए स्वयं चरैवेति-चरैवेति अग्रसर हैं। तभी तो हम यह कह रहे हैं कि यह 'संयम-साधना का अमृतोत्सव' है, संयम की अविराम परंपरा का अमृत-उत्सव है। यह परंपरा मुनि नथमल को विरासत में मिली है। इस विरासत के, इस थाती के दीप्तिमान नक्षत्र तो हैं ही वे, अध्यात्म-जगत की निर्मल सर-सलिला भी हैं—मुनि नथमल, जिनके घाट पर सिंह और बकरी एक साथ अपनी प्यास बुझाने निर्भय हो आ जाते हैं।

इसीलिए यह अवसर उल्लास और श्रद्धापूर्वक कृतज्ञता से भरा-तरा है। साथ ही यह अवसर आज के वक्त की विकरालता को समझने और वे उपाय खोजने का भी है कि जिससे विषमता से झुलस रहे इस समाज को अनुत्राण मिल सके। अमृत की तासीर तो हम समझते हैं, पर परिस्थितियों का तकाजा भी हमें समझना है। हमें समझना है कि जो 'अमृत-घट' सहज ही सुलभ हो रहा है, वह निरर्थक ही न छलक पड़े। साधना के इस अमृत-पुरुष का एकमेव उद्देश्य क्या है, हमारे सामने पहले यह स्पष्ट होना जरूरी है। इस साधक का उद्देश्य उनके ही इस मंतव्य में स्पष्ट है—'एक दिन भारतीय लोग प्रत्यक्षानुभूति की दिशा में गतिशील थे। अब यह वेग अवरुद्ध हो गया है। आज का भारतीय मानस परोक्षानुभूति से प्रताड़ित है। वह बाहर से अर्थ का ऋण ही नहीं ले रहा है, चिंतन का ऋण भी ले रहा है। उसकी शक्तिहीनता का यह स्वतःस्फूर्त साक्ष्य है। मेरी आदिम, मध्यम और अंतिम आकांक्षा यही है कि मैं आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने और प्रत्याक्षानुभूति की ओर ले जाने में अपना योग दूं।' यह तड़प एक ऐसे साधक की है, जिसके पीछे सुसंगठित श्वेत-धवल

वाहिनी है, अनुशासित अनुगामी हैं। अपने असंख्य अनुगामियों को 'जड़-क्रियाकांडों' से सचेत रखने वाले इस साधक के अमूल्य अवदानों से यह आशा बलवती भी होती है कि आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाया जा सकता है। यह आशा फलवती कैसे बने—यही यक्ष प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर इसी साधक की साधना से प्रस्फुट सूत्रों में हमें मिल सकता है। प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान इस साधक के ऐसे अमूल्य सूत्र हैं जिनका लोक-व्यापन आहत हो रही मानवता के लिए त्राणदाई सिद्ध हो सकता है। अध्यात्म और विज्ञान के सहकार की बातें विश्व के विचारक लगातार प्रकट करते रहे हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मत भी इनके सहकार का रहा है। तभी उसके क्रियात्मक रूप के लिए उनकी मेधा ने प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान को आविष्कृत किया है। इनके लोक-व्यापन में ही भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने का बीज-मंत्र निहित है।

यह काम निश्चय ही सिद्धांतकारों का नहीं होता, पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कोरे सिद्धांतकार नहीं हैं। तभी तो वे साफ-साफ कहते हैं—'मैं शास्त्रों से लाभान्वित होता हूं, किंतु उनका भार ढोने में विश्वास नहीं करता।' हमारे सम्मुख ऐसा ही अनुपमेय उदाहरण महात्मा गांधी का है। वे भी अपने जीवन में अनवरत प्रयोगकर्ता रहे। गांधी ने भी सिद्धांतों का क्रियात्मक रूप प्रयोगों से सिद्ध किया। गांधी ने भी कुछ ऐसा ही कहा—'तुम्हारे ज्ञान की कीमत तुम्हारे कामों से होगी। पुस्तकें मस्तिष्क में भरने के बजाए उस ज्ञान को व्यवहार में उतारने पर ही उसका मूल्य होता है।'

कोई भी सिद्धांत लोकहित में तभी सार्थक रूप ग्रहण करता है जब किसी प्रयोगशाला में वह कसौटी पर चढ़े। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का वह कालखंड, जो मुनि नथमल के रूप में जाना जाता है, सचमुच साधना की सुलभ प्रयोगशाला रहा है। वे कहते ही हैं—'मुझे जो साधना मिली है, वह सत्य की पूजा नहीं करती, शल्य-चिकित्सा करती है।' और साधना के गर्भ की इसी शल्यक्रिया से प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान जन्मते हैं। आज अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान के इस त्रि-सूत्र में विषमता के विषदंत को असरहीन करने की क्षमता है, तो हिंसा और आतंक से आहत मानव-समाज को आश्रय देने का सशक्त धरातल भी है। बात इतनी-सी बच रहती है कि इनके लोक-व्यापन की व्यूह-रचना किस तरह बुनी जाए।

यही वक्त का तकाजा है। मुनि नथमल की संयम-साधना के पचहत्तर वर्ष-पर्याय का यह अवसर उनके त्रि-सूत्र के लोक-व्यापन का आधार बन जाए और उनके अमृत का फल जन-जन के हाथों में पहुंच जाए—यही विचार सबके लिए प्रासंगिक होना चाहिए। यह बात अब सतही प्रचार-प्रसार और रिवाजी वाह-वाही से मुक्त होकर ठोस आधार ले सके और ठोस नतीजे भी सामने आ सकें—ऐसी ही इच्छा-शक्ति को जगाने की अब पहली आवश्यकता है। खुशफहमियों को छोड़कर जमीनी सचाई से दो-चार होने के लिए अपने ही प्रति निष्ठुर होकर नतीजों का मूल्यांकन करने की जरूरत है। जरूरत है कि जिस संयम-साधना के प्रति हम श्रद्धाशील हैं, उसके मूल में मट्ठा डालने के कुत्सित प्रयासों को अलग-थलग करदें। आंकड़ों के मायाजाल से नहीं, बेलाग मूल्यांकन से ऐसी जमीन निर्मित करें जो किसी की नहीं, सबकी हो।

ऐसी ढांचागत निर्मिति के लिए किस तरह के औजार चाहिए—यह स्पष्टता भी होना जरूरी है। अमृतपुंज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की साधना की भट्टी में भी ये औजार यदि तप-निखर कर तेजस्वी न बन सके तो पग-पग पर सामने नजर आ रही खंदकों को पाटना दुरूह हो जाएगा। यही नहीं, इस जर्जर मानवता को त्राण देने की बात भी सपना ही रह जाएगी। अतः पहला संकल्प तो उन्हीं को लेना है जो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सपनों को साकार करने में रत हैं, संकल्पित हैं। लोक-व्यापन के लिए सबसे बड़ा आधार राज्य है। लोक की सत्ता से निसृत राज्य के लिए लोकहित में कोई भी संकल्प अपरिहार्य नहीं होना चाहिए। अतः दूसरा संकल्प राज्य को लेना चाहिए कि इंसानी तकाजों के लिए वह महाप्रज्ञजी के त्रि-सूत्र को अंगीकार करे, अमली रूप दे।

—शुभू पटवा

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के जीवन में माघ मास और उसका भी शुक्ल पक्ष आचार्यश्री का भी शुक्लपक्ष है। जिस संघ के वे अंग हैं, जिसकी मर्यादाएं उनके जीवन का आधार हैं—उस तेरापंथ धर्मसंघ का मर्यादा-महोत्सव (माघ शुक्ला सप्तमी, 15 फरवरी, 2005) और जिस संघ के वे आज अधिष्ठाता हैं—उस पद पर आरूढ़ होने का पावन दिवस भी माघ शुक्ला छठ (15 फरवरी, 2005) है तथा संयम-साधना के जिन पचहत्तर वर्ष-पर्याय पर न केवल तेरापंथ, भगवान महावीर से लेकर आचार्यवर की परंपरा तक के कालखंड में आए इस विरल अवसर—आचार्यश्री महाप्रज्ञ दीक्षा दिवस (युवा दिवस) भी माघ शुक्ला दशमी (18 फरवरी, 2005) इसी माघ मास में साथ-साथ हैं। हमारी परंपरा में त्रिकाल-वेला का अतुलनीय महत्त्व है, इस त्रिविध अवसर का महत्त्व भी अनुपमेय है। मर्यादामय महाप्रज्ञ के संयममय अमृत-उत्सव पर हम श्रद्धानत हैं। **—सं.**

विमर्श

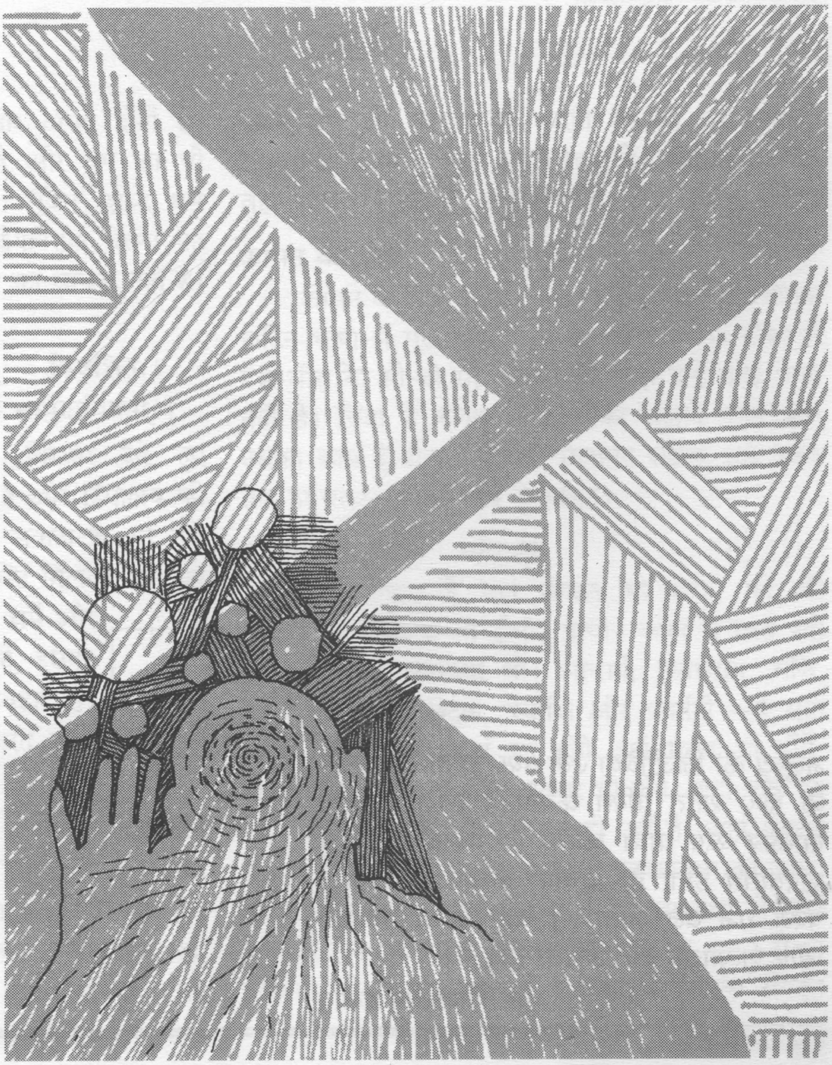

मनुष्य की जिजीविषा उसे उस पूर्णता की प्राप्ति के लिए सतत प्रेरित करती है जिससे अद्वैत साकार रूप प्राप्त करता है, पदार्थ ऊर्जा में परिवर्तित होता है, विचार आचार के रूप में परम धर्म बन जाता है। यही वेदांत, विज्ञान और सत्याग्रह का मिलन-बिंदु है।

प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद

राजनेताओं के लिए तो संविधान होता है, पर साधुओं का भी संविधान होता है। इस बात पर बहुत विस्मय प्रकट किया गया। यह सच है—तेरापंथ धर्मसंघ का जितना व्यवस्थित संविधान है, अन्यत्र दुर्लभ है। पहले ही दिन कोई साधु वीतराग बन जाए, यह नहीं हो सकता, राग-द्वेष के संस्कारों को चीरती हुई प्रकाश की एक किरण किसी क्षण फूट गई, वैराग्य जाग गया और व्यक्ति मुनि बन गया। उसे धीरे-धीरे साधना करते-करते बहुत आगे बढ़ना होता है। अतीत में भी साधुओं ने क्या नहीं किया? महावीर के शिष्यों ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया—यह जान लेने पर मर्यादा और व्यवस्था की अनिवार्यता सहज ही समझ में आ जाती है।

जब साधना संघबद्ध हो

□ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

141वां मर्यादा महोत्सव विशेष

धर्म और शासन में भेद और अभेद दोनों हैं। राजनीति का भी शासन है और धर्म का भी शासन है। दो शब्द हैं जिन-शासन। 'जिन' शब्द धर्म का वाचक है और धर्म मनुष्य की वैयक्तिक चेतना का द्योतक है। शासन शब्द केवल व्यक्ति का वाचक नहीं है। कहा है—

धर्मशासनयोर्भेदोऽभेदः सम्यग् विवक्षितः।
धर्मो वैयक्तिकोऽपि स्यात् शासनं सामुदायिकम्।।

आचार्य ने अपनी बात को विस्तार देते हुए कहा—धर्म वैयक्तिक भी हो सकता है और हिमालय की गुफा में ध्यान-लीन होने पर भी हो सकता है, पर उसे शासन नहीं कहा जा सकता। सौ व्यक्ति मिलकर धर्म को चलाएं, वह धर्म भी है, शासन भी है। धर्म और शासन में अभेद भी है और भेद भी है, इसका अर्थ है—जहां शासन है, वहां व्यवहार है। निश्चय नय में शासन की कोई जरूरत नहीं, उसमें शासन होता ही नहीं।

व्यवहार के क्षेत्र में शासन की उपयोगिता असंदिग्ध है। जहां निश्चय नय है, वहां न कोई शास्ता है, न शासित है और न शासन है। वहां केवल आत्मा है। निश्चय के क्षेत्र में किसी व्यक्ति से किसी व्यक्ति का कोई संबंध नहीं होता। मृगचर्या निश्चय नय में ही होती है। यह निश्चयाभिमुखी साधना की पद्धति है। जो स्थविरकल्पी साधना है, उसमें व्यवहार प्रमुख रहता है। जहां व्यवहार है, वहां कोरा धर्म नहीं है, शासन भी है।

शासन का अर्थ

शासन के लिए अंग्रेजी में शब्द है—गवर्नमेंट। इसका लेटिन भाषा में मूल अर्थ है—नौका को चलाना। नौका में दस-बीस या सौ-दो सौ आदमी बैठ गए। उन्हें कोई चिंता नहीं है। चिंता है कर्णधार को, नौका चलाने वाले को। उसका काम है नौका को सही-सलामत रखना, उसे लक्ष्य तक पहुंचाना। इसका अर्थ है शासन।

संगठन का प्रारूप : संविधान

जहां शासन है वहां संगठन भी होगा, पद की व्यवस्था भी होगी। प्राचीन काल में सात पदों की व्यवस्था थी। आचार्य, उपाध्याय, गणि, गणावच्छेदक, प्रवर्तक और प्रवर्तनी—ये सात पद थे। जहां पद होंगे वहां मूल्य भी होंगे, महत्त्वाकांक्षा को जगाने के अवसर भी होंगे। जहां कोई पद नहीं, वहां महत्त्वाकांक्षा का प्रश्न ही नहीं है। जहां संगठन है, पद है, पद की व्यवस्था है वहां महत्त्वाकांक्षा का जगना भी प्रासंगिक बन जाता है। जहां महत्त्वाकांक्षा है वहां दलबंदी होना भी संभव है। आचार्य भिक्षु के समय से ही दलबंदी की समस्या शुरू हो गई थी। नया-नया संगठन

विकसित हो रहा था और उसमें यह समस्या भी प्रबल रूप से सामने आई। अनेक मुनियों ने अनेक साधुओं को आचार्य से विमुख करने की कोशिश की, संघ में भेद डालने के तीव्र प्रयत्न किए। आचार्य भिक्षु की दिव्य दृष्टि इन बातों को समझती थी।

इसलिए आचार्य भिक्षु ने संघ का एक प्रारूप बनाया, संविधान बनाया। उसमें अनेक व्यवस्थाएं कीं। उद्देश्य था—धर्मसंघ अखंड बना रहे, उसमें कहीं कोई दलबंदी न हो। इस विषय को लेकर साधुओं के मन में भी संभवतः प्रश्न उठे होंगे। साधु और दलबंदी दोनों में मेल कहां है? संभव है कि आचार्य भारमलजी ने भी प्रश्न पूछा होगा? उन्होंने नहीं पूछा होगा, ऐसा हम क्यों मानें? साधु-साध्वियां दलबंदी न करें, यह विधान संगत कैसे हो सकता है?

संविधान की मूलधाराएं

आचार्य भिक्षु ने संविधान की कुछ धाराएं रचीं, उनमें इस समस्या का यथार्थ चित्रण है। संविधान का मूलपाठ इसका साक्ष्य है—

'गण की अखंडता के लिए यह आवश्यक है कि कोई साधु-साध्वी आपस में दलबंदी न करे।' इसीलिए भिक्षु स्वामी ने वि.सं.1845 के लिखत में कहा है—'जो गण में रहते हुए साधु-साध्वियों को फंटाकर दलबंदी करता है वह विश्वासघाती और बहुलकर्मी है।' स्वामीजी ने स्थान-स्थान पर दलबंदी का प्रतिकार किया है। वि.सं. 1850 के लिखत में स्वामीजी ने लिखा है—'कोई साधु-साध्वी में भेद न डाले और दलबंदी न करे।' हमारा यह प्रसिद्ध सूत्र है 'जिल्लो ते संयम ने टिल्लो।' गण में भेद डालने वाले के लिए भगवान ने दसवें प्रायश्चित्त का विधान किया है।

साधुओं का संविधान

छापर मर्यादा महोत्सव (सन् 1989) के अवसर पर एक प्रेस क्रांफ्रेंस आयोजित हुई। आचार्यश्री तुलसी ने पत्रकारों को तेरापंथ का संविधान-पत्र दिखाया। उस संविधान में आलेखित मर्यादाओं के बारे में विस्तार से जानकारी दी। इन मर्यादाओं को सुनकर पत्रकार विस्मित रह गए। खबरों के शीर्षक लगाए—'साधुओं का संविधान।' राजनेताओं के लिए तो संविधान होता है, पर साधुओं का भी संविधान होता है। इस बात पर बहुत विस्मय प्रकट किया गया। यह सच है—तेरापंथ धर्मसंघ का जितना व्यवस्थित संविधान है, अन्यत्र दुर्लभ है। पहले ही दिन कोई साधु वीतराग बन जाए, यह नहीं हो सकता, राग-द्वेष के संस्कारों को चीरती हुई प्रकाश की एक किरण किसी क्षण फूट गई, वैराग्य जाग गया और व्यक्ति मुनि बन गया। उसे धीरे-धीरे साधना करते-करते बहुत आगे बढ़ना होता है। अतीत में भी साधुओं ने क्या नहीं किया? महावीर के शिष्यों ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया—यह जान लेने पर मर्यादा और व्यवस्था की अनिवार्यता सहज ही समझ में आ जाती है।

साक्षी है इतिहास

देवदत्त बुद्ध का शिष्य था। उसके मन में बुद्ध का उत्तराधिकार पाने की प्रबल भावना थी। उसने बुद्ध के साथ कैसा व्यवहार किया? देवदत्त ने बुद्ध को नीचे गिरा दिया और स्वयं पत्थर लेकर बुद्ध के ऊपर बैठ गया।

जब तक राग-द्वेष विद्यमान हैं, तब तक वह छद्मस्थ है, प्रमादी है। लोग साधु के प्रति एक श्रद्धा की प्रतिमा बना लेते हैं, वह आवश्यक भी है, पर साथ में यह भी मानकर चलें कि साधु प्रमत्त गुणस्थान में है, उसमें प्रमाद भी है। जहां प्रमाद है, वहां अनेक भूलें हो सकती हैं। तेरापंथ का इतिहास भी इसका साक्षी है।

जब-जब अवसर मिला तब-तब ऐसी घटनाएं हुईं। एक समस्या यह भी है कि जब कई साधु समर्थ बन जाते हैं, तब इसकी संभावना अधिक हो जाती है। इन सारी स्थितियों को अपनी दूरदर्शी दृष्टि से परख कर आचार्य भिक्षु ने एक मजबूत धारा निर्मित की कि जिससे तेरापंथ धर्मसंघ अखंड रहे, गण की अखंडता बनी रहे। जहां गण खंडित होता है, वहां शक्ति बिखर जाती है। तेरापंथ धर्मसंघ का जो इतना विकास हुआ है, वह गण की अखंडता के आधार पर ही हुआ है। यदि गण खंडित होता तो इतना विकास होना कभी संभव ही नहीं था।

न्याय की परिभाषा

संघ से अलग होने वाले अनेक बार कहते हैं—मेरे साथ न्याय नहीं हुआ। मुझे जो मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला। इस संदर्भ में प्लेटो का कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्लेटो ने न्याय की बहुत सुंदर परिभाषा दी है। न्याय का आधार समानता नहीं है। जिसको जो देय है, वही देना, इसका नाम है। न्याय—एक साधु है—वह पांच समिति, तीन गुप्ति और पंचमहाव्रत की सम्यक् आराधना करता है। सभी इनकी अराधना करने वाले हैं। इसका अर्थ है—साधु समान हैं। कहा जा सकता है—यदि सब साधु समान हैं तो

शेष पृष्ठ 18 पर

शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान के यथार्थ होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—कहने वाला आप्त हो और हम उसकी बात समझने में भूल न करें। आप्त उस मनुष्य को कहते हैं जो वस्तु का यथार्थ ज्ञाता हो। यथाज्ञान वक्ता हो और समझाने की शक्ति रखता हो। यदि इनमें से किसी भी कारण से स्वयं कहने वाले का ज्ञान समीचीन अर्थात् यथावस्तु नहीं है तो सुनने वाले का ज्ञान कैसे ठीक हो सकता है? फिर कहने वाले में अपने भाव को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की योग्यता तो होनी ही चाहिए, उसका चित्त राग-द्वेष-भय आदि से मुक्त होना चाहिए, अन्यथा वह अपने ज्ञान को यथावत प्रकट न करेगा, कुछ छिपा रखेगा, कुछ बढ़ाकर कहेगा। जो इन तीनों दोषों से रहित हो, वही आप्त पुरुष है। उसका वाक्य प्रमाण हो सकता है। परंतु इस प्रमाण से लाभ तभी उठाया जा सकता है जब सुनने वाले का चित्त भी निर्मल हो।

प्रमा : शुद्ध ज्ञान का नाम

❑ डॉ. संपूर्णानंद

शुद्ध ज्ञान का नाम प्रमा है। प्रमा के साधनों को प्रमाण कहते हैं। इसके साधन तीन हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनके दुष्प्रयोग से अयथार्थ ज्ञान होता है।

प्रमाणों में सबसे महत्त्व का स्थान प्रत्यक्ष का है। शेष दोनों प्रमाण इसी पर निर्भर करते हैं। साधारणतः ऐसा कहा जाता है कि विषय और इंद्रिय के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है। युष्मत् प्रपंच, दूसरे शब्दों में बाहरी वस्तुओं को ग्रहण करने अर्थात् बाहरी वस्तुओं से प्रभावित होने और उनको प्रभावित करने की योग्यता या शक्ति का नाम इंद्रिय है। इंद्रियां बाहरी जगत् से संपर्क का द्वार हैं। ज्ञानेंद्रियों के द्वारा युष्मत् का प्रवेश अस्मत् में और कर्मेंद्रियों के द्वारा अस्मत् का आघात युष्मत् पर होता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका किसी इंद्रिय से संयोग हो। हम किसी वस्तु को तभी जान सकते हैं, जब वह वस्तु जिस इंद्रिय का विषय हो सकती है, वह इंद्रिय उसके संपर्क में आए। जो वस्तु रूपरहित है अर्थात् प्रकाशयुक्त नहीं है वह चक्षुरिंद्रिय का विषय नहीं हो सकती, देखी नहीं जा सकती। रूपवान वस्तु भी तभी देखी जा सकती है जब उसका चक्षुरिंद्रिय से संपर्क हो अर्थात् इस इंद्रिय का अधिष्ठान, आंख और मस्तिष्क का चाक्षुषकेंद्र, उसके सामने हो। परंतु इतने से ही प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। ऐसा भी हो सकता है कि आंख निरोग हो, चक्षुरिंद्रिय पुष्ट हो और रूप सामने हो, फिर भी प्रत्यक्ष न हो, वस्तु देख न पड़े। देख पड़ने के लिए अंतःकरण का भी योग होना चाहिए। अन्यमनस्क होने की दशा में, चित्त कहीं और लगे रहने की अवस्था में, सामने की वस्तु नहीं देख पड़ती, पास का स्वर नहीं सुन पड़ता। अतः प्रत्यक्ष के लिए विषय, इंद्रिय और अंतःकरण का सन्निकर्ष आवश्यक है।

प्रत्यक्ष की प्रणाली को समझ लेना आवश्यक है। शरीर पर बाहरी वस्तुओं के बराबर आघात होते रहते हैं और उनके प्रत्याघात भी होते रहते हैं परंतु हमको इन सबका पता नहीं लगता। आंख के सामने तीव्र प्रकाश आया, सिर फिर गया या आंख बंद हो गई; सिर की ओर कोई भारी वस्तु आई, हाथ उसे रोकने के लिए उठ गया, कोई छोटा कीड़ा या अन्य वस्तु कहीं आ पड़ी, हाथ ने उसे हटा दिया; मुंह के सामने कोई खाद्य वस्तु आई, मुंह में रस आ गया। ऐसी कई प्रतिक्रियाएं निद्रावस्था में भी होती रहती हैं। इनका

तत्काल संपन्न होना शरीर के लिए आवश्यक है, इसलिए नाड़िसंस्थान इनको स्वतः कर लेता है; ये काम इतने सरल हैं कि इनके लिए विचार की अपेक्षा भी नहीं है। परंतु जब आघात तीव्र होता है तब विचार की आवश्यकता पड़ती है। उसी अवस्था में प्रत्यक्ष के लिए अवकाश होता है। मच्छर शरीर पर बैठा, सोते में भी हाथ उसे हटा देगा। यदि न भी हटा तो कोई बड़ी क्षति न होगी। सिर की ओर कोई भारी वस्तु आ रही है, उस समय एक ही क्रिया संभव है। उसके लिए हाथ स्वतः उठ जाता है। परंतु यदि सामने सिंह आ जाए तब कई प्रकार की क्रियाएं परिस्थिति-भेद से संभव हैं। कभी सिंह से लड़ना ठीक हो सकता है, कभी भागना, कभी पेड़ पर छिप जाना। इनमें से कौनसा काम किया जाए—इसका निश्चय सिंह के प्रत्यक्ष होने पर, अर्थात् उसको देखने या उसकी दहाड़ सुनने या उसकी गंध मिलने पर ही संभव है।

अंतःकरण जिस रूप से इंद्रियगृहीत विषय के संपर्क में आता है, उसे मन कहते हैं। मन में विषय का जो रूप प्रतिष्ठित होता है, वह संवित् कहलाता है। परंतु यह अनुभूति अकेली नहीं है। इसके पहले भी अनुभूतियां हो चुकी हैं। अंतःकरण का दूसरा रूप अहंकार है। वह इस नई अनुभूति को पहले की अनुभूतियों के संस्कारों से मिलाता है और उसका वर्गीकरण करके अनुभूतियों में यथास्थान स्थापित करता है। अहंकार का काम है नई अनुभूति को अहं (अस्मत्) में मिलाना। अब वह विषय प्रत्यय कहलाता है। बाहरी विषयों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—पांच संवित् होते हैं। तब अंतःकरण का तीसरा रूप उसके संबंध में अध्यवसाय करता है अर्थात् यह निश्चय करता है कि यह विषय कैसा है, इसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, इत्यादि। अंतःकरण के इस तीसरे रूप का नाम बुद्धि है। बुद्धि में आने के पश्चात् वह विषय विचार-सामग्री बन जाता है। फिर तो उसके आधार पर अनेक प्रकार के तर्क किए जा सकते हैं और दूसरे विचारों से मिलाकर अनेक कल्पनाएं की जा सकती हैं। वस्तुतः अंतःकरण या चित्त एक है, पर वह क्रमात् तीन प्रकार के काम करता है। इसलिए उसे तीन नाम दिए गए हैं। प्रत्यक्ष के विषय में ऊपर जो कहा गया है वह एक उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

एक जगह एक विद्वान और एक वनवासी बैठे हैं। उनके सामने एक पुस्तक आती है। उसका रंग, उसकी आकृति, उसकी लंबाई-चौड़ाई का भान दोनों को एक-सा होगा। दोनों के मन पर एक-सा प्रभाव पड़ेगा। अतः दोनों के संवित् एक-से होंगे। परंतु वनवासी ने कभी पुस्तक देखी नहीं, वह पुस्तक का उपयोग नहीं जानता। संभवतः उसके लिए वह किसी के सिर पर दे मारने के योग्य भारी वस्तुमात्र है। परंतु विद्वान ने सैकड़ों पुस्तकें पढ़ी हैं। पुस्तकें बड़ी, छोटी, मोटी, पतली, हस्तलिखित, छपी, अनेक प्रकार की, अनेक विषयों की होती हैं। परंतु इन सबमें कुछ समान गुण हैं जिनके कारण इनको एक ही नाम से पुकारा जाता है। इन्हीं गुणों को अपने सामने की वस्तु में पाकर वह विद्वान उसे पुस्तक मानता है। उसे दर्शन से अधिक अभिरुचि है, किन्हीं और विषयों से कम। फिर एक ही विषय की सब पुस्तकें एक ही कोटि की नहीं होतीं। इन सब बातों अर्थात् पुस्तक के विषय, उसकी शैली, उसकी कोटि आदि का विश्लेषण करके अहंकार उसको विद्वान के अनुभव-भंडार में एक विशेष स्थान देता है। इसलिए वनवासी और विद्वान के प्रत्ययों में अंतर होगा। फिर बुद्धि निर्णय करेगी कि इस पुस्तक का क्या किया जाए। संभव है, विद्वान की बुद्धि जिस वस्तु को बहुमूल्य पुस्तक मानकर संग्रह करने का निश्चय करे उसी को वनवासी की बुद्धि निकृष्ट हथियार समझ कर फेंकने का निर्णय करे।

दूसरा उदाहरण लीजिए। सामने एक आम रखा है। हम उसके रूप को ही देखते हैं, संवित् रूप का ही हो रहा है, परंतु स्मृति रूप से उसकी गंध, स्पर्श और स्वाद भी विद्यमान हैं। इसलिए हमको आम का प्रत्यक्ष होता है। जिस देश में आम नहीं होता, वहां के निवासी को रूप मात्र का संवित् होगा। अधिक-से-अधिक उसको यह प्रत्यक्ष होगा कि सामने एक फल है।

अस्तु, अंतःकरण के तीनों स्तरों की क्रिया समाप्त होने पर पूरा प्रत्यक्ष होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि एक ही विषय का प्रत्यक्ष सबको एक-सा नहीं हो सकता। यदि इंद्रिय-बल एक-सा हो तो पहला मानस-चित्र तो एक-सा होगा, संवितों में सादृश्य होगा। अधिकांश मनुष्यों, कम-से-कम अधिकांश सभ्य मनुष्यों के अनुभव बहुत-कुछ मिलते-जुलते होते हैं, इसलिए प्रत्ययों में भी बहुत-कुछ सादृश्य होता है। परंतु पूरा सादृश्य नहीं होता और बुद्धिभेद के कारण प्रत्यक्ष तो एक-सा नहीं ही होता। वही वस्तु किसी के लिए सुंदर, किसी के लिए कुरूप, किसी के लिए भली, किसी के लिए बुरी, किसी के लिए उपादेय, किसी

के लिए हेय होती है। वस्तु का उपयोग या अनुपयोग भी उसके प्रत्यक्ष का अंग होता है। यह भी स्मरणीय है कि जो वस्तु एक परिस्थिति में एक प्रकार की प्रतीत होती है वही दूसरे समय में दूसरे प्रकार की प्रतीत होती है। एक ही व्यक्ति को किसी विषय-विशेष का प्रत्यक्ष सदा एक-सा नहीं होता। जो स्वरसमूह पुत्र जन्म के अवसर पर संगीत प्रतीत होता है उसी का पुत्र-निधन के अवसर पर चीत्कार के रूप में प्रत्यक्ष होता है।

सन्निकर्षाधिकरण

हम यह विचार कर चुके हैं कि प्रत्यक्ष के लिए अंतःकरण और इंद्रिय—दोनों का विषय के साथ सन्निकर्ष या संयोग होना चाहिए। बहुत-से दार्शनिकों को यह सन्निकर्ष एक प्रकार का रहस्य प्रतीत होता है। सामने कोई वस्तु है। उसने आकाश में किसी प्रकार की लहर उत्पन्न की जो आकर आंख के नाड़िजाल से टकराई। नाड़ियों में एक विशेष प्रकार का प्रकंपन हुआ, वह प्रकंपन मस्तिष्क के उस केंद्र तक पहुंचा जो चक्षुरिंद्रिय का मुख्य अधिष्ठान है। यहां तक जो-कुछ क्रिया हुई वह भौतिक जगत् में हुई। लहर, आकाश, नाड़ी, मस्तिष्क, कंपन—यह सब भौतिक शास्त्र के अध्येतव्य विषय हैं। यहां पर नए जगत् का परिचय होता है। अंतःकरण में लाल या हरे रंग की प्रतीति होती है। कंपनादि भौतिक जगत् में होते हैं, रंग-गंध-शब्द की प्रतीति अंतःकरण को होती है। इसके विपरीत उस समय होता है जब चित्त में कोई संकल्प उठता है और उसके फलस्वरूप मस्तिष्क में क्षोभ होता है, नाड़ियों में कंपन होता है और शरीर का कोई भाग कोई काम कर बैठता है। विद्वानों के सामने प्रश्न यह होता है कि यह भौतिक जगत् आंतरिक जगत् को और आंतरिक जगत् भौतिक जगत् को कैसे प्रभावित करते हैं। सजातीय सजातीय को प्रभावित कर सकता है, परंतु चित्त और भौतिक जगत् अत्यंत विजातीय हैं। एक चेतन है, दूसरा जड़। इन दोनों के बीच गहरी खाई है। प्रतिक्षण उस पर पुल बनता रहता है, परंतु कैसे? यह प्रत्यक्ष ज्ञान की कठिन पहेली है।

इस पहेली से घबराने की आवश्यकता नहीं है। रहस्य कुछ तो है ही—जो बात ठीक-ठीक समझ में नहीं आती उसी में रहस्य है—परंतु बहुत-सा रहस्य अपने से बढ़ा लिया गया है। जड़-चेतन जैसे विरोधी शब्दों का प्रयोग करके खाई गहरी कर दी गई है। चित्त और भौतिक जगत् विजातीय नहीं हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण नाम के तीन पदार्थों से चित्त और भौतिक जगत् दोनों की उत्पत्ति हुई है। ये तीनों गुण सदा मिले रहते हैं, परंतु इनकी उद्दीप्ति में भेद रहता है। एक उद्दीप्त रहता है, दूसरे दबे रहते हैं। एक अधिक उद्दीप्त रहता है, दूसरे कम। इसी तारतम्य के कारण वस्तुओं में भेद होता है। यदि सुविधा के लिए गुणों को उनके नामों के प्रथमाक्षरों के अनुसार स, र, त कहें तो चित्त भी 'सरत' है और बाह्य जगत् की प्रत्येक वस्तु—आकाश, नाड़ी, मस्तिष्क—भी सरत है। केवल स, र और त की मात्राओं में भेद है। अतः वस्तु और चित्त के बीच में कोई गहरी खाई नहीं है; दोनों सजातीय हैं; दोनों ओर 'सरत' हैं, जो एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर सकते हैं।

एक और विचार है जो इस रहस्य को सुलझाता है। विश्व वस्तुतः एक है। हमने अपनी सुगमता के लिए उसको अस्मत्-युष्मत्, ज्ञाता-ज्ञेय में बांट रखा है। यदि सारा विश्व कागद माना जाए तो चित्त और भौतिक जगत् उसके दोनों पृष्ठ हैं। दोनों पृष्ठ बराबर हैं, दोनों पृष्ठों का नित्य संपर्क है, दोनों पृष्ठों में कागद अंतर्हित है। समूचे कागद में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इस कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों पृष्ठों में युगपत् परिवर्तन होता है, दोनों पृष्ठ परिणामी अर्थात् परिवर्तनशील हैं। यदि हममें सामर्थ्य हो तो हम उभय पृष्ठ अर्थात् समूचे कागद के परिणाम-प्रवाह को देख सकेंगे। ऐसा न करके हम कभी एक पृष्ठ का अध्ययन करते हैं, कभी दूसरे का। जिसका अध्ययन करते हैं उसमें परिवर्तन होता प्रतीत होता है। दूसरे पृष्ठ के सिवाय और तो कुछ है नहीं, अतः हम यह समझ लेते हैं कि यह दूसरा पृष्ठ ही परिवर्तन की जड़ होगा और तब यह ढूंढ़ना आरंभ करते हैं कि एक पृष्ठ दूसरे पृष्ठ को कैसे प्रभावित करता है। हमारे उपमेय में ठीक यही बात घटती है। अस्मद्युष्मदात्मक जगत् प्रतिक्षण परिणत होता रहता है। उसके अस्मदंश में, जिसे हम यहां चित्तांश कहेंगे, निरंतर परिणाम हो रहा है और साथ ही युष्मदंश में भी, जिसे भौतिकांश कहेंगे, बराबर परिवर्तन हो रहा है। यदि हममें सामर्थ्य हो तो हम इस सारे परिवर्तन को एक साथ देखें और समझें। ऐसा न करके कभी तो हम चित्त पर अपना ध्यान केंद्रीभूत करते हैं। चित्त को परिणत होता देखकर हमको ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक जगत् इन परिणामों का कारण है। इसी प्रकार यदि भौतिक जगत् पर ध्यान दिया जाए तो उसके परिवर्तनों का कारण चित्त में ढूंढ़ना पड़ेगा। फिर हम सोचने लगते हैं कि चित्त और भौतिक जगत्, जो स्वभावतः एक-दूसरे से भिन्न हैं, एक-

दूसरे को किस प्रकार प्रभावित कर सकते हैं। वस्तुतः दोनों के परिवर्तन उस परिवर्तन के दो पटल हैं जो समूचे विश्व में हो रहा है। यह प्रश्न फिर भी रह जाएगा कि समूचे विश्व में क्यों और कैसे परिवर्तन होता है। इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार होगा, परंतु यहां प्रत्यक्ष के स्वरूप को समझने के लिए वह विचार अप्रासंगिक है।

वस्तुस्वरूपाधिकरण

मेरे सामने फूल है। मैं कहता हूं कि मुझे इसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। मैं इसे देखता हूं, छूता हूं, सूंघता हूं। चक्षुरिंद्रिय, स्पर्शेंद्रिय और घ्राणेंद्रिय के द्वारा चित्त में गुलाबी रंग, कोमलता और एक विशेष प्रकार की महक की प्रतीति होती है। फूल के तीनों लक्षण तीन इंद्रियों के विषय हैं। कोमलता चित्त में है, गंध चित्त में है, रंग चित्त में है। इन तीनों गुणों के योग के सिवाय फूल और क्या है? तो, फिर तो सारा फूल चित्त में है। फूल ही क्यों, सारा भौतिक जगत् चित्त में है, मनोराज्य है। परंतु जिस प्रकार हमको अपने विचार या अपनी स्मृतियां चित्त के भीतर प्रतीत होती हैं उस प्रकार फूल भीतर प्रतीत नहीं होता। वह बाहर प्रतीत होता है, इसीलिए हम कहते हैं कि वह बाह्य जगत् में है। हमारे विचार जगह नहीं घेरते, परंतु फूल जगह घेरता है। वह दिक्, आकाश के किसी प्रदेश में है। रंग, गंध, कोमलता जैसे लक्षण चित्त में हैं और इनके सिवाय हमारे लिए फूल और कुछ है नहीं। इन लक्षणों को छोड़ दीजिए तो फिर बचता क्या है, जिसे हम फूल कहें? इसी प्रकार जगत् की सभी वस्तुओं के लिए कह सकते हैं। हमें उनकी सत्ता का पता लक्षणों के रूप में ही मिलता है और लक्षण चित्त में हैं। लक्षणों के अतिरिक्त किसी पदार्थ का हमको परिचय नहीं मिलता। पर केवल इतने से यह सिद्ध नहीं होता कि चित्त के सिवाय कुछ है ही नहीं। अभी ऐसा मानना ठीक जंचता है कि कुछ है। निःसंदेह जो हमारे चित्त में कोमलता, गंध और लाल रंग के संवेदन प्रकट करता है—जिनसे हमको फूल की प्रतीति होती है। कुछ है जो फूल-रूप से प्रतीत होता है, कुछ है जो कुर्सी-रूप से प्रतीत होता है, कुछ है जो कागद-रूप से प्रतीत होता है, कुछ है जिसकी सत्ता है। हमको कागद या कुर्सी या फूल का प्रत्यक्ष होता है; ये उन 'कुछों' के व्यावहारिक रूप हैं। पर कुछों के जो वास्तविक स्वरूप हैं, उनका हमको प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष का विषय उसकी व्यावहारिक सत्ता होती है। अध्यास की अवस्था में व्यावहारिक रूप की जगह कोई और रूप देख पड़ता है। इस रूप को प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। रस्सी में कभी-कभी अध्यास से सर्प का प्रतिभास होता है। हम यंत्रों के द्वारा इंद्रियों की शक्ति को चाहे जितना बढ़ा लें, परंतु ऐंद्रिय ज्ञान वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।

अतींद्रिय प्रत्यक्षाधिकरण

ऐसी भी ज्ञातव्य बातें होती हैं, जो किसी इंद्रिय का विषय नहीं होतीं। चित्त केवल बाहरी वस्तुओं को ही नहीं जानता, अपनी वृत्तियों को भी जानता है। अपने संकल्प, अपनी इच्छाएं, अपने राग, अपने द्वेष, अपनी आशा, अपना भय—ये सब चित्त के परिणाम हैं और चित्त इनको जानता है। इनका ग्रहण किसी इंद्रिय के द्वारा नहीं होता। जिस प्रकार दीपक दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करता है और अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है, इसी प्रकार अंतःकरण दूसरी वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष करता है और अपना भी प्रत्यक्ष करता है। यह प्रत्यक्ष अतींद्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। यह प्रत्यक्ष भी सुकर नहीं है। यों कहना चाहिए कि बाह्य वस्तुओं की भांति चित्त का भी यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। बहुत-सी वृत्तियां दबी रहती हैं। अपने में जो दुर्बलताएं हैं—वे सामने आने नहीं पातीं। कभी-कभी स्वप्न में, मानस रोग में, उन्माद में या ऐसे व्यवहार में, जो तीव्र भावावेश के कारण बुद्धि के नियंत्रण के बाहर निकल गया हो, इन दुर्बलताओं का पता चल जाता है, नहीं तो हम इनको दबाए रहते हैं। बहुत-सी स्मृतियां हैं जो हमारे अंतःकरण में सुरक्षित हैं, परंतु हम उनको हठात् पीछे रखते हैं। अपने विचारों पर हमने कई पहरेदार बैठा रखे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि चित्त को अपने पूरे स्वरूप का, अपनी पूरी गहराई का, ज्ञान नहीं हो पाता। सेंद्रिय की भांति इस अतींद्रिय प्रत्यक्ष द्वारा जो प्रमा उत्पन्न होती है वह भी पूर्ण नहीं होती, संपूर्ण ज्ञेय उसका विषय नहीं हो सकता।

साधारणतः हम दूसरों के स्वभाव की परख उनके आचरणों से करते हैं, परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि न केवल दूसरे मनुष्य का स्वभाव और हमारे प्रति उसका मैत्री या शत्रुत्व या भय का भाव, वरन् उसके विचारों तक की झलक यकायक हमको मिल जाती है। यह भी अतींद्रिय प्रत्यक्ष है। बाहरी वस्तुओं का ज्ञान तो हमको सेंद्रिय प्रत्यक्ष से होता है, परंतु उनके पारस्परिक संबंध और उनको परिचालित करने वाले नियमों का ज्ञान सामान्यतः तर्क द्वारा प्राप्त होता है। परंतु कभी-कभी वैज्ञानिक या अन्य विचारक

को ऐसे तथ्यों का यकायक भान हो उठता है। पीछे से तर्क और अनुसंधान इस तात्कालिक ज्ञान की पुष्टि करते हैं। यह भी अतींद्रिय प्रत्यक्ष है। ऊंचे कलाकार के चित्त में भी विश्व के रहस्य का इसी प्रकार न्यूनाधिक ज्ञान स्फुरित होता है।

अनुमानाधिकरण

प्रमा का दूसरा साधन अनुमान है। यदि अनुमान पर विश्वास न किया जाए तो जगत् का बहुत-सा व्यवहार बंद हो जाए। अनुमान से वही काम लिया जाता है, जहां प्रत्यक्ष सुकर नहीं होता, परंतु उसकी सचाई की कसौटी प्रत्यक्ष ही है। हमको यह निश्चय रहता है कि प्रत्यक्ष अनुमान का समर्थन करेगा। अनुमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। वह प्रत्यक्ष-मूलक है। जिस व्याप्ति के आधार पर अनुमान किया जाता है, वह पिछले प्रत्यक्षों का ही निष्कर्ष होगी और इस अनुमान-काल में भी अनुमेय के लिंग का प्रत्यक्ष होना चाहिए। तभी अनुमान हो सकता है। हमने पहले कई बार यह देखा है कि जहां धुआं था, वहां आग भी थी। यह हमारा अन्वयी प्रत्यक्ष रहा है। यह भी देखा गया कि जहां आग नहीं थी, वहां धुआं नहीं था। यह व्यतिरेकी अनुभव रहा है। इससे हमने इस व्याप्ति—व्यापक नियम का ग्रहण किया कि जहां-जहां धुआं होता है वहां आग अवश्य होती है। हमने सारे जगत् की छानबीन तो की नहीं, दस-पांच जगहों में ऐसा अनुभव किया। जितनी अधिक संख्या में धुएं के साथ आग का प्रत्यक्ष हुआ होगा, उतनी ही अधिक संभावना व्याप्ति के ठीक होने की होगी। थोड़े अनुभव में भूल के लिए अधिक अवकाश है। ऐसे कई स्थल हैं जहां आग के साथ धुआं होता है, परंतु ऐसी व्याप्ति नहीं है कि जहां-जहां आग हो वहां धुआं भी हो। प्रत्यक्ष के आधार पर कोई भी व्यापक नियम बनाया जाए, इस बात की संभावना बराबर बनी रहेगी कि स्यात् कोई ऐसा दृग्विषय मिल जाए जिसमें वह नियम न घटता हो। यदि ऐसा एक भी उदाहरण मिला तो नियम न रह जाएगा। अस्तु, यदि हम किसी दूर के स्थान में आग के अस्तित्व का अनुमान करते हैं तो आग के लिंग अर्थात् धुएं का प्रत्यक्ष होना चाहिए। प्रत्यक्षमूलक होने से अनुमान में वे सब भूलें हो सकती हैं, जो प्रत्यक्ष में होती हैं। यदि पहले ही भूल हुई हो तो व्याप्ति ही ठीक न होगी। यदि इस समय लिंग के संबंध में भूल हो रही हो तो भी अनुमान ठीक न निकलेगा। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी को दूर के पहाड़ पर का कुहरा धुएं के रूप में देख पड़ता है। यहां उसे लिंग के संबंध में मिथ्या ज्ञान हुआ है, कुहरे में धुएं का आभास हुआ है। अतः यदि पहाड़ पर आग का अनुमान किया जाए तो वह अनुमित ज्ञान झूठा निकलेगा, इस कारण अनुमान से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके भ्रांत होने की संभावना रहती है और यह संभावना प्रत्यक्ष की अपेक्षा अधिक होती है।

शब्दाधिकरण

प्रमा का तीसरा साधन शब्द है। व्यवहार में इसका परित्याग नहीं किया जा सकता। हम बहुत-सी बातें दूसरों के कहने के आधार पर मान लेते हैं। सारी पृथ्वी का भूगोल इसी प्रकार पढ़ते हैं। यह विश्वास रहता है कि जो बात बतलाई जा रही है, उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, परंतु प्रत्येक बात की इस प्रकार परख की नहीं जाती। कोई कहता है—अमुक सड़क पर पागल हाथी खड़ा है, उधर मत जाओ। समझदार लोग इस बात को मान लेंगे। यदि कोई निश्चय करने के लिए उधर जाएगा तो उसको प्रत्यक्ष अनुभव का सुख तो मिलेगा, परंतु हाथी के पांव बहुत देर तक यह सुख भोगने न देंगे। रोगी वैद्य की इस बात को मान लेता है कि अमुक औषध के पीने से व्यथा का उपशम होगा। इससे उसका कल्याण होता है। शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान के यथार्थ होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—कहने वाला आप्त हो और हम उसकी बात समझने में भूल न करें। आप्त उस मनुष्य को कहते हैं जो वस्तु का यथार्थ ज्ञाता हो। यथाज्ञान वक्ता हो और समझाने की शक्ति रखता हो। ज्ञान जिन कारणों से अपूर्ण या मिथ्या हो जाता है उनकी ओर हम ऊपर कई स्थलों में संकेत कर आए हैं। यदि इनमें से किसी भी कारण से स्वयं कहने वाले का ज्ञान समीचीन अर्थात् यथावस्तु नहीं है तो सुनने वाले का ज्ञान कैसे ठीक हो सकता है? फिर कहने वाले में अपने भाव को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की योग्यता तो होनी ही चाहिए, उसका चित्त राग-द्वेष-भय आदि से मुक्त होना चाहिए, अन्यथा वह अपने ज्ञान को यथावत प्रकट न करेगा, कुछ छिपा रखेगा, कुछ बढ़ाकर कहेगा। जो इन तीनों दोषों से रहित हो, वही आप्त पुरुष है। उसका वाक्य प्रमाण हो सकता है। परंतु इस प्रमाण से लाभ तभी उठाया जा सकता है जब सुनने वाले का चित्त भी निर्मल हो। जिसका चित्त किसी दुराग्रह से मुक्त है, वह शब्द प्रमाण को तोड़-मोड़कर उसकी व्याख्या अपने पुराने अशुद्ध विचारों के अनुसार करेगा। इस प्रकार जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी असंदिग्ध न होगा। ❖

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के 'ह्यूमन डवलपमेंट इंडेक्स' में खुशी का सूचकांक व्यक्ति की समृद्धि को तो दर्शाता है, किंतु मूल्यों के स्तर को नहीं आंका जाता। ये सूचकांक यह स्पष्ट नहीं करते कि व्यक्ति अपने जीवन में कितना मर्यादित है, कितना अनुशासित है। जब-जब व्यक्ति मर्यादाच्युत होता है, तब-तब किसी-न-किसी रूप में उसे दुख झेलना ही पड़ता है।

मर्यादाविहीनता के उजाड़

❑ डॉ. बच्छराज दूगड़

व्यक्ति के अपने मूल्य और सांस्कृतिक मूल्य ही उसकी खुशियों का आधार बनते हैं। मूल्यों से ही व्यक्ति का आचार निदृष्ट होता है, जबकि मूल्यों की अवहेलना व्यक्ति के आचार-व्यवहार की स्खलना को दर्शाती है। मर्यादा एक महती मूल्य है। उसको तोड़ना आचार की गहरी स्खलना है। खुशियों के सूचकांक में स्वास्थ्य, शिक्षा और अर्थ (आय) को तो आधार बनाया जाता है, किंतु इंसान और इंसानियत को उसमें सम्मिलित नहीं किया जाता। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के 'ह्यूमन डवलपमेंट इंडेक्स' में खुशी का सूचकांक व्यक्ति की समृद्धि को तो दर्शाता है, किंतु मूल्यों के स्तर को नहीं आंका जाता। ये सूचकांक यह स्पष्ट नहीं करते कि व्यक्ति अपने जीवन में कितना मर्यादित है, कितना अनुशासित है। जब-जब व्यक्ति मर्यादाच्युत होता है, तब-तब किसी-न-किसी रूप में उसे दुख झेलना ही पड़ता है।

आज का सत्तासीन—प्रभुवर्ग एवं बौद्धिक समाज अपने कार्य और व्यवहार, जीवन-प्रक्रिया और जीवन-प्रवाह में सिद्धांतों के स्तर पर पूरी तरह से असंबद्ध हो गया है। इसी तरह वैचारिक सिद्धांतकारों ने भी आपसी दूरियां इतनी बना ली हैं कि एक-दूसरे की विचारधारा, उनके महत्त्व और उनके कर्तृत्त्व को सहन ही नहीं कर पाते। सिद्धांतों पर आधारित मर्यादा विश्रृंखलित होती जा रही है। किसी समय सोच-विचार एवं सिद्धांतों के अनुरूप सत्कर्म की पूंजी इकट्ठी हो जाती थी और उसी पूंजी (साख) के बल पर सामाजिक प्रतिष्ठा स्थापित होती थी और उसी के इर्द-गिर्द ही राजनीति केंद्रित होती थी, किंतु अब कथित राजनीति की पूंजी ही सब-कुछ है और उसे ही न्यायोचित एवं वैध ठहराने वाले तर्क ढूंढ़े जाते हैं। सबसे चिंतनीय बात यह है कि बौद्धिक वर्ग और अंततः आम-जन भी उनके इस तरह के तर्कों का शिकार हो जाता है और राजनीतिक वर्चस्व मजबूत होता चला जाता है। वस्तुतः सिद्धांत की दुनिया में कर्ता, क्रिया और कर्म के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है। वैचारिक प्रक्रिया को जीवन में उतारने और बौद्धिक या सत्तासीन वर्ग के वर्तमान स्खलन का मुख्य कारण मर्यादाओं की अवहेलना है। आम-तौर पर वे सिद्धांतों को व्यवहार में नहीं उतार पाते। कार्य और व्यवहार के विश्रृंखलन तथा इस तरफ किसी का ध्यान भी जाए—ऐसे आसार काफी कम नजर आते हैं। ऐसी स्थिति में समाज की दशा का अनुमान लगा सकते हैं।

तथाकथित आधुनिकता और ऊंची वैयक्तिक आकांक्षाएं आज की जीवन-शैली बनती जा रही हैं। इस जीवन-शैली ने व्यक्ति को परिवार एवं समाज से उदासीन किया है। यह जीवन-शैली, असीमित आकांक्षाएं और माता-पिता की अपनी संतान के प्रति उदासीनता तथा समाज में बढ़ते स्वेच्छाचार के कारण किशोरवय के लड़के-लड़कियों में मूल्यों, नैतिकताओं और आत्म-अनुशासन के प्रति लापरवाही का भाव बढ़ा है। स्कूलों के विदाई कार्यक्रमों में अश्लील हरकतों (एसएमएस कांड) ने चेतावनी की घंटी बजा दी है। इसका मुख्य कारण भी मर्यादाहीनता है। पहले बच्चों को अपने अभिभावकों के अनुशासन में रहना पड़ता था। अब अभिभावकों में बच्चों को खुश रखने की प्रवृत्ति बढ़ी है। मर्यादा तथा अनुशासन

के बरक्स अब बिना सोचे-समझे बच्चों के लिए अत्याधुनिक साजो-सामान जुटाने, ब्रांडेड परिधान उपलब्ध कराने एवं सैर-सपाटा करवाकर उन्हें खुश रखने की कोशिशें होने लगी हैं। लगता है कि अभिभावकों की नैतिक-सत्ता का सिंहासन बुरी तरह डोल रहा है। बच्चों की ओर से भावनात्मक 'ब्लेकमेलिंग' की कोशिशों और अभिभावकों का बिना किसी सकारात्मक अनुशासन के अति अनुराग से भलाई की बनिस्बत बहुत बुराई की जड़ें मजबूत हुई हैं। गैर-सरकारी संगठन 'एक्सप्रेशंस' द्वारा मई, 2004 में एक सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष सामने आया कि 78 प्रतिशत युवा अपने निजी-जीवन के बारे में बातचीत करने के लिए ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा करते हैं जो उनसे आदेशात्मक लहजे में कोई बात न करे। अर्थात् वे अपनी मनमानियों को अपनी स्वतंत्रता मानते हुए एक ऐसे सामाजिक परिवेश का निर्माण कर रहे हैं जिसमें 'डेटिंग,' 'इंटरनेट' पर अश्लील साहित्य और अश्लील तस्वीरें देखना, एस.एम.एस. संवाद और सैर-सपाटा स्वीकार्य हो। शिक्षा के पवित्र मंदिरों में ऐसे हालात जहां-तहां देखे जा सकते हैं और इन ज्ञान-मंदिरों में अध्ययनरत युवाओं में नैतिकता और मूल्यों के मायने वे नहीं रह गए हैं जो कभी हमारी परंपरा और संस्कृति के रहे हैं और समूचा जगत् इन पर गर्व करता था।

बाल-मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि अभिभावकों के बिना सूने घरों में देर तक बच्चों का तनहा रहने का असर हम जितना सोचते हैं, उससे कहीं अधिक हुआ है। मां-बाप के साथ खुले और सच्चे संवाद टूट जाने तथा व्यावहारिक आदर्शों के घोर अभाव के कारण बच्चों में कई तरह की अतृप्त आकांक्षाएं उभर आई हैं। जिनका समाधान करने का धैर्य और समय किसी के पास नहीं है। वस्तुतः फर्ज के प्रति ईमानदारी और जिम्मेदारी का कोई सकारात्मक बोध बचा ही नहीं है। दिखावे की अंतरंगता और निजी फायदे के लिए दोस्ती जैसे कृत्य युवाओं के लिए सबसे बड़ा खतरा बनते जा रहे हैं। 'पश्चिम का प्रभाव है'—हम इस मुहावरे का घिसा-पिटा बहाना अब और लंबा नहीं चला सकते। अभिभावकों के स्तर पर भी वस्तुतः मर्यादाओं का क्षरण हो रहा है और बिना अपेक्षित संरक्षण के, बच्चों के स्तर पर भी—हमें यह मानना चाहिए। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि बच्चों में अवसाद और कुंठा के लक्षण उभर रहे हैं, उनमें तनाव झेलने की क्षमता दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। भारत का बदलता समाज युवाओं में मर्यादा और अनुशासन को ताक पर रखने की बीमारी को नजरअंदाज नहीं कर सकता। अब तक नजरअंदाज किये जाने का ही परिणाम है कि शिक्षालयों में मादक पदार्थों का सेवन, शराबखोरी, शारीरिक संबंध एवं जिद्दीपन बढ़ता ही गया। मां-बाप इस बात से अनभिज्ञ हैं कि बच्चों को प्रतिकूल व नकारात्मक मनोभावों को झेलने का प्रशिक्षण किस तरह दिया जाए। ज्यादातर विशेषज्ञ अनुशासन की उस बेहतरीन कला पर जोर देते हैं, जिसमें दंडात्मक सबक के स्थान पर जीवन के सकारात्मक मूल्यों को सिखाया जाता है।

हमारे सामने एक दूसरी समस्या भी है। हमारी मर्यादाविहीनता ने प्रकृति को भी उजाड़ा है। उसके खौफ को भी हमें झेलना पड़ा है। वैसे तो मानव-सभ्यता की कहानी प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन की ही कहानी है। सुनामी लहरों से हुई तबाही के लिए भी हमारी मर्यादाहीनता (कारोबारी लालच) को ही जिम्मेदार ठहराया जा रहा है। विशेषज्ञ इस बात को उठा रहे हैं कि तटीय क्षेत्रों में मूंगा-चट्टानों और सामुद्रिक वनस्पति को बड़े पैमाने पर झींगा-पालन के चक्र में बरबाद कर दिया गया, जो विनाशकारी लहरों की ताकत को रोकने का काम करती थी। खाद्य और कृषि नीति विश्लेषक देवेन्द्र शर्मा के अनुसार इस तरह की प्रवृत्ति को खाद्य एवं कृषि संगठन ने एक बार 'प्रकृति के साथ बलात्कार' की संज्ञा दी थी। सच ही है—लुटेरे और परभक्षी के रूप में मनुष्य सभी प्राणियों से आगे है। कोई पक्षी भी अपने नीड़ को इस तरह बरबाद नहीं करता, जिस तरह अमर्यादित मानव कर रहा है। एक कार्टूनिस्ट एक बच्चे से कहलवाता है—'पापा! हमारे भविष्य के लिए मत इकट्ठा कीजिए, हमारे वर्तमान के लिए कुछ रहने दीजिए।' महान सभ्यताओं—सुमेरिया, मिश्र एवं सिंधु घाटी—के विनाश का कारण मानव की अमर्यादित इच्छाएं ही रही हैं। वर्तमान में इथियोपिया इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इथियोपिया के भुखमरी की गिरफ्त में आने का कारण अकाल नहीं, पर्वतीय क्षेत्रों में भूमि का अमर्यादित उपयोग था, जिसके फलस्वरूप मिट्टी बुरी तरह कटने लगी थी।

मानव ने जब-जब मर्यादाओं को लांघा है तब-तब उसे उनका यह फल भोगना ही पड़ा है। एक मनो-वैज्ञानिक विश्लेषक के इन तथ्यों से मर्यादाविहीनता का एक नमूना देखने को मिलता है। अपने अध्ययन में उसने बताया है कि पिछले तीस वर्षों में 46000 लेख 'डिप्रेशन' और 36000 लेख 'दुश्चिंता' पर लिखे गये, मगर खुशी जैसे विषय पर मात्र 2000 और उल्लास पर केवल 400 लेख ही मिले।

क्योंकि अधिकांश अपनी ही स्वच्छंदता के दुख से जूझते हुए सुख का नुस्खा ढूंढ़ रहे थे। उम्मीद एवं आत्मविश्वास के सहारे जीना ही खुशी की ओर अग्रसर होना है। मर्यादा के धरातल पर ही सुख का महल खड़ा किया जा सकता है। 'ग्लोबलाइजेशन' और सबके एक-दूसरे पर टिके होने के सिद्धांतों को मानते हुए अब ऐसे बहु-स्तरीय गतिशील ढांचे को बनाने की जरूरत है, जिसमें जीवन के मुद्दे एक-दूसरे से जुड़े रहें और वे सब एक निश्चित व्यवस्था (मर्यादा) द्वारा नियंत्रित हों।

मर्यादा के ऐसे आदर्शों का एक महोत्सव—मर्यादा महोत्सव—इस धरती पर सौभाग्य से हर साल मनाया जाता है—तेरापंथ धर्मसंघ में। इस महोत्सव से संपूर्ण मानव-समाज प्रेरणा लेकर क्या अपनी विषमताओं से मुक्त होना चाहेगा? ❖

जब साधना संघबद्ध हो पृष्ठ 10 का शेष

किसी को भी आचार्य बना दिया जाना चाहिए। यह न्याय नहीं है, जिसको जो देय है, वही देना चाहिए और यही न्याय है।

संघ कब तक चलेगा

शासन, संगठन, पद-व्यवस्था, महत्त्वाकांक्षा और न्याय—ये सारी बातें संगठन से जुड़ी हुई हैं। आचार्य भिक्षु ने दलबंदी पर प्रहार कर धर्मशासन को सुंदर और भव्य रूप दे दिया। उसका ही यह परिणाम है कि तेरापंथ एक नेतृत्व में एकजुट होकर प्रगति कर रहा है।

आचार्य भिक्षु से पूछा गया—यह संगठन कब तक चलेगा? आचार्य भिक्षु ने कहा—जब तक नीति शुद्ध रहेगी, एक नेतृत्व की बात चलेगी, संगठन ठीक चलेगा, सबके साथ न्याय होगा, साधु-साध्वियों का आचार-व्यवहार ठीक रहेगा तब तक यह संघ अबाध गति से चलता रहेगा।

आचार्य भिक्षु का यह मार्मिक वाक्य प्रत्येक तेरापंथी के मानस-पटल पर केवल अंकित ही नहीं होना चाहिए, उनके आचार और व्यवहार में भी स्पष्ट परिलक्षित होना चाहिए। ऐसा होने पर ही तेरापंथ धर्मसंघ सदा अक्षुण्ण और गतिशील बना रह सकता है।

संघबद्धता के अनिवार्य तत्त्व

इतिहास का यह अविस्मरणीय पृष्ठ है कि भगवान पार्श्व ने संघबद्ध साधना का सूत्रपात किया था। साधना और संघ—इन दोनों का योग अद्भुत-सा लगता है, पर संघबद्धता के प्रयोग ने यह प्रमाणित कर दिया कि क्षमता की कसौटी के लिए संघबद्धता एक अवसर है। इस अवसर का लाभ अधिक से अधिक व्यक्ति उठा सकते हैं। भगवान महावीर के युग में बहुत विशाल धर्मसंघ थे। उनके स्वयं के संघ में ही चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां थीं। आजीवकों, बौद्धों तथा अन्य श्रमणों के संघ भी बहुत विशाल थे। ये सभी भगवान पार्श्व की परंपरा से प्रभावित थे।

जैन साहित्य में भगवान महावीर को और बौद्ध साहित्य में भगवान बुद्ध को शास्ता कहा गया है। उनका शासन था, वे उसके शास्ता थे, धर्म की साधना का मूल आत्मानुशासन है, किंतु जब साधना संघबद्ध होती है तब धर्मशासन के साथ अनुशासन भी जुड़ जाता है। अनुशासन, व्यवस्था और मर्यादा—ये सब संघबद्धता के अनिवार्य तत्त्व हैं।

अनुशासन के मंत्रदाता : आचार्य भिक्षु

दशवैकालिक सूत्र का एक प्रसंग है। शिष्य ने पूछा—'भंते! आपदा किस का वरण करती है और संपदा किसे उपलब्ध होती है?' आचार्य ने उत्तर दिया—'आपदा उसका वरण करती है, जो अविनीत होता है और संपदा उसे उपलब्ध होती है, जो विनीत होता है।' फिर प्रश्न हुआ—'अविनीत कौन है और विनीत कौन है?' आचार्य ने उत्तर दिया—'जो गुरु के अनुशासन को शिरोधार्य नहीं करता, वह अविनीत है और जो उसे शिरोधार्य करता है, वह विनीत होता है।' अनुशासन और विनय की धारा के आधार पर धर्मसंघों ने बहुत विकास किया। इतिहास की समीक्षा के द्वारा यह हम जान सकते हैं। विकास की उसी श्रृंखला की एक कड़ी है—तेरापंथ।

तेरापंथ धर्मसंघ का प्रवर्तन दो सौ पैंतालीस-छियालीस वर्ष पूर्व हुआ था। उसके प्रवर्तक थे—आचार्य भिक्षु। उन्हें अनुशासन का सूत्रधार कहा जा सकता है। उनमें संगठन की अद्भुत क्षमता थी। वे केवल संगठनकार ही नहीं थे, उसके मंत्रदाता भी थे। उन्होंने संगठन के कुछ ऐसे मंत्र दिए, जो आज भी उतने ही उपयोगी हैं, उतने ही मूल्यवान हैं। ❖

अनुभूति

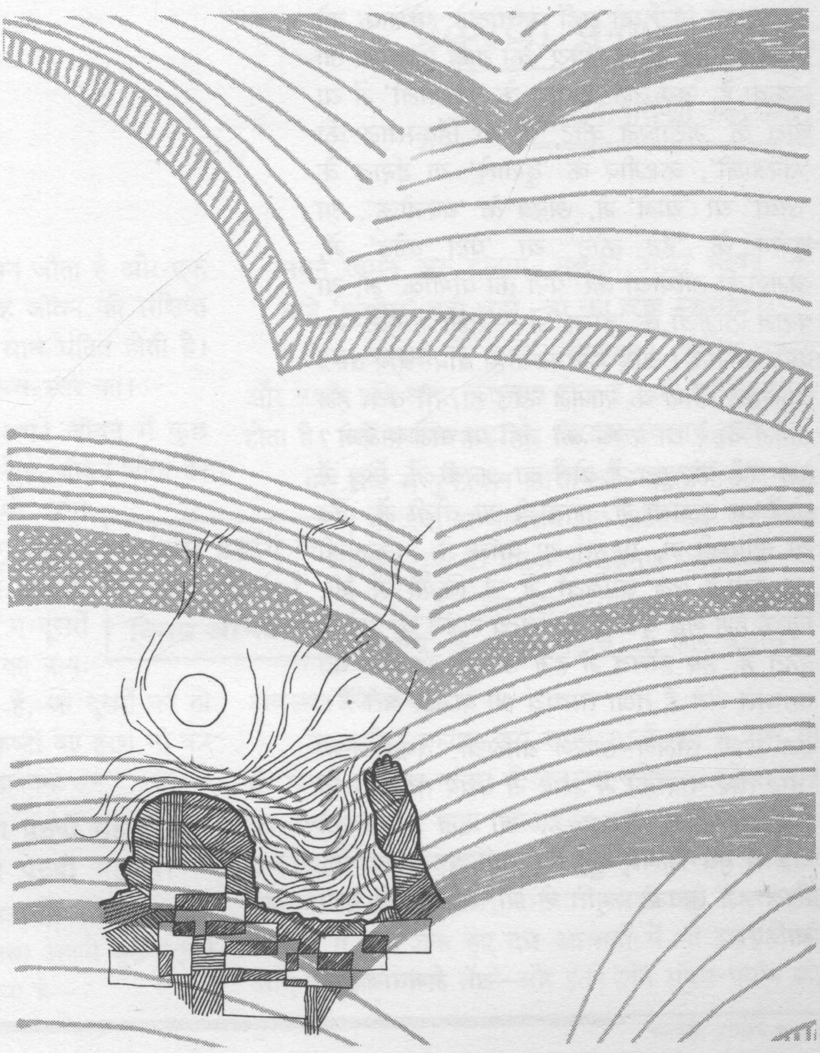

यदि हम अपने किसी प्रिय को एक ही पोशाक में पहचानते हों, दूसरी में नहीं पहचानते, तो हम अपने प्रिय को नहीं पहचानते, पोशाक को पहचानते हैं। अपने 'प्रिय' को तभी पहचाना जा सकता है, जब उसे जापान के 'किमोनो' में या चीन के 'मंडारिन कोट' में या हिंदुस्तान की 'शेरवानी', कश्मीर के 'दुशाले' या ईरान के 'अबा' या 'चोगे' में, अरब के 'बरनोऊ', या यूरोप के 'हैट कोट' या 'पेटी कोट' में, अमरीकी हब्सियों की 'परों की पोशाक' में, या पुराने रोमियों के 'तोगा' में—सभी में एक-सा पहचान सकें। यदि हम स्वयं ही बार-बार वस्त्र बदलकर शीशे के सामने खड़े हों, तो क्या हम अपने चेहरे या स्वयं को नहीं पहचान सकेंगे? हम चाहे संस्कृत में बोलें या अरबी में, हिब्रू में बोलें या यूनानी में, लातीनी या चीनी में, जेंद या जापानी में, प्राकृत या पालि में, गुरुमुखी या हजारों उन बोलियों में से किसी में भी, जिन्हें हम गढ़ चुके हैं या नित्य गढ़ते या भुलाते रहते हैं, हर हालत में हम अपनी आवाज को पहचान लेते हैं तथा तात्पर्य भी समझ लेते हैं।

इन सभी अलग-अलग बोलियों, वेशभूषाओं और तौर-तरीकों में इधर से उधर तक व्याप्त एक आंतरिक एकता है, जो इन सभी को संभाले एवं मिलाए हुए है। यही वह सचाई है, जिसे हमें अपनी स्मृति से भी मिटने नहीं देना चाहिए।

—डॉ. भगवानदास

आचार्यप्रवर एक संत हैं। हमारी भारतीय संस्कृति में संत का बहुत ऊंचा स्थान रहा है। यहां तक कि नौ वर्ष का एक संत भी एक नब्बे वर्ष के गृहस्थ के लिए वंदनीय होता है। आचार्यप्रवर एक सामान्य संत नहीं, विशिष्ट संत हैं। आप संतों के भी गुरु और मार्गदर्शक हैं। आपकी प्रज्ञा का मूल्यांकन कर पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने आपको 'महाप्रज्ञ' अलंकरण से अलंकृत किया। शास्त्रों में तीर्थंकरों के लिए, गणधरों के लिए, यशस्वी और मेधावी आचार्यों के लिए 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग हुआ है। गुरुदेवश्री तुलसी ने कहा—जिसमें विद्या और साधना का पूर्ण समावेश हो, दोनों का संयुक्त समावेश हो, दोनों अलग-थलग न रहे—वह होता है महाप्रज्ञ। आपने आशीर्वाद की मुद्रा में कहा—'महाप्रज्ञ! तुम संघ में अपनी प्रज्ञा को बिखेरो। अनेक व्यक्ति प्रज्ञावान बनें, ऐसा उपक्रम करो।' वर्तमान में आचार्यप्रवर इस आशीर्वाद को सार्थक कर रहे हैं। मात्र अपने समाज में ही नहीं, अपितु मानव जाति के उत्थान के लिए अविराम कार्य कर रहे हैं। इस आधार पर भी आप प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं।

प्रकृत्या पुरुषो महान

❑ युवाचार्यश्री महाश्रमण

आदमी जन्म लेता है। जीवन जीता है और एक दिन चला जाता है। यह जीवन की संक्षिप्त कहानी है। यह कहानी हर प्राणी के साथ घटित होती है। चाहे वह अधम-स्तर का हो, चाहे उच्च-स्तर का।

महान पुरुष वह होता है, जो अपने जीवन में कुछ विशेष कार्य करता है, महान गुणों से युक्त जीवन जीता है। दुनिया में तीन प्रकार के आदमी होते हैं—अधम, मध्यम और उत्तम। अधम व्यक्ति वे होते हैं, जो दूसरों को कष्ट पहुंचाते रहते हैं। मध्यम व्यक्ति वे होते हैं, जो प्रायः न दूसरों को कष्ट देते हैं और न उनके कष्टों का प्रायः हरण करते हैं। उत्तम व्यक्ति वे होते हैं, जो दूसरों को तो कष्ट पहुंचाते ही नहीं, अपितु उनके कष्टों का हरण भी कर लेते हैं। संस्कृत साहित्य में ठीक कहा गया—

संयम पर्याय के पचहत्तर वर्ष विनम्र अभिवंदना

नाकृत्या पुरुषो नीचो, नाकृत्या पुरुषो महान।
प्रकृत्या पुरुषो नीचो, प्रकृत्या पुरुषो महान।।

आदमी आकार से न महान बनता है, न अधम। परंतु अपनी अच्छी प्रकृति से वह महान तथा अपनी बुरी प्रकृति से ही अधम बनता है। सुंदर कहा गया है—

नमन खमन अरु दीनता, सबका आदर भाव।
कहे 'कबीरा' वही बड़ा, जा का बड़ा स्वभाव।।

जिस आदमी में नम्रता, सहिष्णुता, भक्ति-भावना और सबके प्रति आदर का भाव होता है, वही व्यक्ति महान होता है। वही व्यक्ति बड़ा है, जिसका स्वभाव बड़ा है।

मेरी दृष्टि में युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी हिंदुस्तान के एक सम्माननीय एवं प्रतिष्ठित व्यक्तित्व बन चुके हैं। उसके चार प्रमुख आधार हैं—

1. अवस्था ज्येष्ठत्व, 2. विशिष्ट संतत्व, 3. कुशल नेतृत्व, 4. ज्ञान वृद्धत्व।

अवस्था ज्येष्ठत्व

आचार्यश्री महाप्रज्ञ इस समय 85वें वर्ष में चल रहे हैं। हमारी भारतीय परंपरा में अवस्था ज्येष्ठत्व भी सम्मान का एक आधार माना जाता है। भारत में धर्मगुरुओं, राजनेताओं और समाजनेताओं में सक्रिय व्यक्तियों में इतनी अवस्था प्राप्त करने वाले संभवतः ज्यादा नहीं हैं। तेरापंथ धर्मसंघ में अब तक हुए दस आचार्यों में भी इतनी लंबी आयु को प्राप्त करने वाले और इतने लंबे संयम-पर्याय को

प्राप्त करने वाले आप प्रथम आचार्य हैं। न केवल आचार्यों में, अपितु आज तक हुए तेरापंथ के समस्त साधुओं में भी किसी को इतना लंबा संयम-पर्याय प्राप्त नहीं हुआ। 20 जुलाई, 2004 को आचार्यश्री का संयम-पर्याय 73 वर्ष 5 महीने और 24 दिन का हो गया था। तेरापंथ धर्मसंघ के साधुओं में यह कीर्तिमान है। इस प्रकार अवस्था ज्येष्ठत्व भी प्रतिष्ठित व्यक्तित्व का एक आधार है।

विशिष्ट संतत्व

आचार्यप्रवर एक संत हैं। हमारी भारतीय संस्कृति में संत का बहुत ऊंचा स्थान रहा है। यहां तक कि नौ वर्ष का एक संत भी एक नब्बे वर्ष के गृहस्थ के लिए वंदनीय होता है। आचार्यप्रवर एक सामान्य संत नहीं, विशिष्ट संत हैं। आप संतों के भी गुरु और मार्गदर्शक हैं। आपकी प्रज्ञा का मूल्यांकन कर पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने आपको 'महाप्रज्ञ' अलंकरण से अलंकृत किया। शास्त्रों में तीर्थंकरों के लिए, गणधरों के लिए, यशस्वी और मेधावी आचार्यों के लिए 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग हुआ है। गुरुदेवश्री तुलसी ने कहा—जिसमें विद्या और साधना का पूर्ण समावेश हो, दोनों का संयुक्त समावेश हो, दोनों अलग-थलग न रहे—वह होता है महाप्रज्ञ। आपने आशीर्वाद की मुद्रा में कहा—'महाप्रज्ञ! तुम संघ में अपनी प्रज्ञा को बिखेरो। अनेक व्यक्ति प्रज्ञावान बनें, ऐसा उपक्रम करो।' वर्तमान में आचार्यप्रवर इस आशीर्वाद को सार्थक कर रहे हैं। मात्र अपने समाज में ही नहीं, अपितु मानव जाति के उत्थान के लिए अविराम कार्य कर रहे हैं। इस आधार पर भी आप प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं।

कुशल नेतृत्व

आचार्यप्रवर एक प्रसिद्ध धर्मगुरु हैं। वर्तमान में लगभग आठ सौ साधु-साध्वियों और समण-समणियों का संन्यासी वर्ग आपका शिष्य समाज है। इसके अतिरिक्त लाखों श्रावक-श्राविकाएं आपके अनुयाई हैं। इतर तेरापंथी और अजैन लोग भी आपश्री के 'मिशन' के साथ जुड़े हुए हैं। इतना विशाल समुदाय एक आचार्य के नेतृत्व में है। इस आधार पर भी आचार्यप्रवर एक प्रतिष्ठित व्यक्तित्व हैं।

ज्ञान वृद्धत्व

आचार्यश्री ने ज्ञान की जो आराधना की है, वैदुष्य की जिस ऊंचाई का स्पर्श किया है, वह विशिष्ट है। आपने पुराना युग भी देखा है और वर्तमान युग को देख ही रहे हैं। आपका ज्ञान और अनुभव विशाल है। आपश्री के द्वारा सैकड़ों पुस्तकों का निर्माण हुआ है। प्राचीन जैन आगमों को संपादित कर आपने उनको आधुनिक स्वरूप में प्रस्तुत किया है। राजकीय व सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए मार्गदर्शन दिया है। समसामयिक प्रवचनों के द्वारा आम-जन का निरंतर मार्गदर्शन किया है। टेलीविजन पर 'संस्कार' चैनल से प्रवचनों का प्रसारण महत्त्वपूर्ण बन रहा है। विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों—राजनेताओं, साहित्यकारों, पत्रकारों, विचारकों से मुलाकातें और विचार-मंथन होता रहता है। इस उपक्रम ने भी आपको प्रतिष्ठित बनाया है।

संयम-पर्याय के 75वें वर्ष प्रवेश के उपलक्ष्य में हम कुछ ठोस भावांजलि अर्पित कर सकें, यही मंगल कामना। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001 ❑ फोन : 22357956, 22343598 फैक्स : 033-22343666

महासभा के 91वें वार्षिक अधिवेशन की सूचना

महासभा का 91वां वार्षिक अधिवेशन आगामी मिति माघ शुक्ला 6, दिनांक 14 फरवरी, 2005 को सायं 7.00 बजे जैन विश्वभारती परिसर, लाडनूं (राज.) में होगा, जिसमें निम्नांकित विषयों पर विचार होगा—

महासभा के 90वें वार्षिक अधिवेशन की कार्रवाई का पठन व स्वीकृति। ❖ महासभा के 91वें वर्ष के महामंत्री के वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार व स्वीकृति। ❖ महासभा के हिसाब परीक्षक द्वारा अंकेक्षित, महासभा के 1 अप्रैल, 2003 से 31 मार्च, 2004 तक के आय-व्यय लेखा की स्वीकृति। ❖ आगामी एक वर्ष के लिए महासभा के अंकेक्षक की नियुक्ति। ❖ आए हुए प्रस्तावों एवं सुझावों पर विचार। ❖ विविध—अध्यक्ष महोदय की अनुमति से।

महासभा के वार्षिक अधिवेशन में सभी सदस्यों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है।

तरुण सेठिया
महामंत्री

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। एक सामान्य व्यक्ति से लेकर प्रज्ञा के शिखर पर बैठा हर व्यक्ति विज्ञान की भाषा में सोचता है। विज्ञान की कसौटी से उतरे तथ्यों को ही स्वीकार करता है। आपने वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ जैन आगमों की प्रस्तुति देकर समय के साथ इनकी उपयोगिता को शतगुणित कर दिया है। आपका यह कार्य, आगम संपादन का, बौद्धिक वर्ग के अंतश्चक्षुओं के लिए अनंत आलोक है। अध्यात्म के शिखर पर आरोहण के लिए पगडंडी है।

इन रत्नों के आगे फीकी है आभा उनकी

❑ साध्वी विमलप्रज्ञा

चक्रवर्ती कौन होता है?

चक्रवर्ती अपने युग का सर्वशक्ति-संपन्न पुरुष होता है। चक्रवर्ती ऋद्धि-सिद्धि का परगामी पुरुष होता है। चक्रवर्ती छह खण्ड का अधिपति होता है। चक्रवर्ती चौदह रत्नों से सुशोभित होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी चक्रवर्ती कैसे?

- ***एक ओर विशाल वैभव, तो दूसरी ओर उत्कृष्ट अनासक्ति।***
- ***एक ओर छहखण्ड का राज्य, तो दूसरी ओर अप्रतिबद्ध विहार की मनस्थिति।***
- ***एक ओर भौतिक सुखों की चरम सीमा, तो दूसरी ओर अध्यात्म की अनन्त गहराई।***
- ***एक ओर चौदह रत्नों की सम्पदा, तो दूसरी ओर अकिंचिनता।***

पदाभिरोहण दिवस विशेष

फिर चक्रवर्ती कैसे

मैंने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के कर्तत्य में झांकने का प्रयत्न किया। लगा कि यहां तो रत्नों का अंबार है। चक्रवर्ती के रत्नों की आभा भी इन रत्नों के आगे शायद फीकी पड़ जाती है।

चक्रवर्ती के चौदह रत्न हैं

(1) चक्र (2) छत्र (3) दण्ड (4) असि (5) चर्म (6) मणि (7) काकिणी (8) अश्व (9) गज (10) पुरोहित (11) गृहपति (12) वर्धकी (13) सेनापति (14) स्त्रीरत्न।

चक्र-रत्न

यह रत्न चक्रवर्ती की आयुधशाला में उत्पन्न होता है। हजारों देवों द्वारा अधिष्ठित होता है। यह प्रत्येक योजन पर जाकर रुकता है। इसलिए इसके आधार पर योजनों की संख्या का प्रमाण होता है। इसी के द्वारा चक्रवर्ती छह खण्डों में विजय प्राप्त करता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी धर्म-चक्रवर्ती हैं। उनका अहिंसा-चक्र संपूर्ण मानव जाति का नेतृत्व कर रहा है, एक गांव से दूसरे गांव, एक नगर से दूसरे नगर में अहिंसा का बिगुल बजाता हुआ।

यह अहिंसा-चक्र जब हिंसा से सुलगते गुजरात की ओर बढ़ रहा था, नंगे पांव शांत एवं सार्थक पदचाप के साथ श्वेत सेनानियों का काफिला साथ में था—तब इस बढ़ती हुई श्वेत धवल-वाहिनी ने नियति के भाल पर यह अंकित कर दिया कि हिंसा का उपचार अहिंसा की संहिता में ही मिल सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जब गुजरात की धरती पर पांव धरा तो परिस्थितियां मोड़ लेने लगीं। हिंसा की आग स्वतः ठंडी पड़ने लगी। लोगों के दिलो-दिमाग में चामत्कारिक परिवर्तन का एहसास होने लगा।

आचार्यश्री ने हिंसा के दहशतभरे माहौल में गुजरात में प्रवेश किया था और रथ-यात्रा का प्रसंग निकट था। किसी ने यह कल्पना नहीं की थी कि ऐसा हिंसात्मक माहौल

इतना जल्दी शांति में बदल जाएगा, बिना रक्तपात के रथ-यात्रा संपन्न हो जाएगी। हिंसा पर अहिंसा की यह भारी विजय थी।

गुजरात प्रवेश के समय अहमदाबाद शहर के महापौर हिम्मतभाई पटेल ने 'की-ऑफ-सिटी' आचार्य-प्रवर के चरणों में भेंट की और कहा—यह चाबी सर्वोत्तम विश्वास का प्रतीक है, यह शहर आपका घर है। हमारे सारे दुख-दर्द दूर हों। घर में निरंतर शांति और खुशहाली बनी रहे। अपने गुजरात प्रवास के दौरान अमन और शांति के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लगातार प्रयत्न किए। जाति, धर्म और विचारधारा से एकदम ऊपर उठकर सभी वर्गों के आम या प्रमुखजन उनसे परामर्श लेने आते रहे। शांति का मार्ग निरंतर प्रशस्त हो—ऐसे प्रयास हर कदम पर हुए। उनके फल भी सामने आए।

अहिंसा का चक्र-रत्न राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के चप्पे-चप्पे में अहिंसा का आगाज करता हुआ भारत की राजधानी दिल्ली की ओर बढ़ने की तैयारी में है।

छत्र-रत्न

बारह योजन विस्तार वाला छत्र-रत्न शीत, आतप और वर्षा से चक्रवर्ती की सुरक्षा करता है। यह महा मूल्यवान् दिव्य छत्र-रत्न निन्यानबे हजार स्वर्ण शलाकाओं से परिमंडित होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का छत्र-रत्न है—प्रेक्षाध्यान। जो कुंठा, घुटन और तनाव के ताप से मानव को मुक्त करता है। इसके क्षेत्र की सीमा नहीं है। यह क्षेत्र और काल की सीमा से मुक्त है।

प्रेक्षाध्यान की गूंज आज देश की धरती से परे विदेश की धरती तक पहुंच चुकी है। प्रेक्षाध्यान के छोटे-छोटे प्रयोग व्यक्ति को आधि, व्याधि, उपाधि से मुक्त करते हैं। इसके प्रयोगों से गुजरनेवाला व्यक्ति अपने भीतर शांति और आनंद का अनुभव करता है।

दंड-रत्न

चक्रवर्ती का यह दिव्य दंड-रत्न अप्रतिहत शांतिकारक है। चक्रवर्ती के मनोरथ को पूर्ण करता है। गड्ढों, गुफाओं और पर्वतों के विषम भागों को सम बना देता है। सेनापति तमिस्रा गुफा के दक्षिण भाग के कपाटों को दंड-रत्न से ताड़ित कर खोलता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का दंड-रत्न है—जीवन विज्ञान। जीवन विज्ञान शिक्षा के असंतुलन को संतुलित बनाता है।

शिक्षा के चार आयाम हैं—(1) शारीरिक विकास, (2) मानसिक विकास, (3) बौद्धिक विकास, (4) भावनात्मक विकास। आज शिक्षा जगत् की सारी दृष्टि शारीरिक विकास और बौद्धिक विकास पर ही केंद्रित है। मानसिक और भावनात्मक विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया जा रहा है। जीवन विज्ञान इस असंतुलन को दूर करता है।

आज की शिक्षा से विद्यार्थी के मस्तिष्क का बायां-भाग तो सक्रिय है—जो तर्क, गणित आदि लौकिक विद्याओं के लिए सक्रिय रहता है। लेकिन दाएं भाग की ओर ध्यान ही नहीं जा रहा है। दायां भाग अनुशासन, चारित्र और विवेक चेतना के लिए उत्तरदाई है। जीवन विज्ञान दाएं भाग को सक्रिय बनाकर संतुलित विकास की दिशा दिखाता है।

असि-रत्न

चक्रवर्ती का दिव्य असि-रत्न नीलकमल के समान श्यामल, चंद्र के समान चमक वाला होता है। शत्रुओं का संहार करनेवाला तथा तीक्ष्णधार से युक्त होता है। इसकी मूठ स्वर्ण और रत्नों से मंडित होती है। यह पचास अंगुल लंबा, सोलह अंगुल चौड़ा और आठ अंगुल मोटा होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का असि-रत्न है—अणुव्रत।

वर्तमान में मानव के शत्रु हैं—असंयम, भ्रष्टाचार, आतंकवाद और रिश्वतखोरी। अणुव्रत इन सभी समस्याओं पर स्वेच्छया अंकुश है। व्यक्ति के भीतर जब इच्छाओं का विस्तार होता है, तब समस्याओं का द्वार खुलता है। मानव का अमानवीय रूप उभर कर सामने आता है।

अणुव्रत इन बुराइयों का शमन करता है, बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं पर रोक लगाता है।

चर्म-रत्न

चक्रवर्ती के इस दिव्य चर्म-रत्न का आकार श्रीवत्स जैसा होता है। इस पर सन आदि सत्तरह प्रकार के धान्यों की खेती एक ही दिन में पक जाती है। जल-संतरण के समय यह नौका के रूप में परिणत हो जाता है। जिससे सेना सहित सिंधु नदी को पार किया जा सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का चर्मरत्न है—अहिंसा

समवाय। अहिंसा की उर्वरा धरती पर ही शांति की पौध लहलहा सकती है।

आज हिंसा ने नैतिक मूल्यों की धरती को बंजर बना दिया है। भौतिक संसाधनों से संपन्न होते हुए भी व्यक्ति अशांत है, निराश है। वह शांति पाने के लिए छटपटा रहा है। अहिंसा की धरती पर फलने वाला कल्पवृक्ष ही उसे शांति दे सकता है। उसकी शीतल छांह में अपने ताप को मिटा सकता है।

अहिंसा की सामूहिक शक्ति से हर समस्या का पार पाया जा सकता है फिर चाहे वह समस्या यहां हो या समुद्र-पार। उसकी अजेय शक्ति को कोई चुनौती नहीं दे सकता।

मणि-रत्न

चक्रवर्ती का यह अमूल्य मणि-रत्न चार अंगुल लंबा और तिरछा होता है। इसके छह कोण होते हैं। जो इसे मस्तक पर धारण करता है, वह सब रोगों से मुक्त हो जाता है। देव, मनुष्य और तिर्यंच-कृत उपसर्ग उसे पीड़ित नहीं करते।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मणि-रत्न है आप ही के द्वारा रचित प्रेक्षाध्यान आदि का विपुल साहित्य।

आपकी लेखनी ने साहित्य की विविध-धाराओं में नए स्वस्तिक उकेरे हैं। आपके साहित्य का हर बोल, हर शब्द जीवन में नूतन प्रकाश भरता है, विचारों को सही दिशा देता है। आध्यात्मिक ऊर्जा के साथ आपकी कलम में भी दिव्य क्षमता है। आप द्वारा निर्दिष्ट प्रयोगों से जब व्यक्ति गुजरता है तो वह शारीरिक और मानसिक स्वस्थता को हासिल करता है। कायोत्सर्ग का प्रयोग उपसर्ग आदि को भेदने का अमोघ उपाय है।

काकिणी-रत्न

बारह योजन के अंधकार को निगलने वाला, तमिस्रा गुफा को आलोक से भरने वाला है—काकिणी-रत्न। इसके प्रभाव से अंधकार भी उजाले में बदल जाता है। इसके छह तल, बारह कोटि और आठ कोण होते हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का काकिणी-रत्न है—आगम संपादन। जिसका अनंत आलोक युग-युग तक मानव को आलोकित करता रहेगा। आगम की हर गाथा एक प्रकाश-पुंज है। शक्ति का स्रोत है।

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। एक सामान्य व्यक्ति से लेकर प्रज्ञा के शिखर पर बैठा हर व्यक्ति विज्ञान की भाषा में सोचता है। विज्ञान की कसौटी से उतरे तथ्यों को ही स्वीकार करता है। आपने वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ जैन आगामों की प्रस्तुति देकर समय के साथ इनकी उपयोगिता को शतगुणित कर दिया है। आपका यह कार्य, आगम संपादन का, बौद्धिक वर्ग के अंतश्चक्षुओं के लिए अनंत आलोक है। अध्यात्म के शिखर पर आरोहण के लिए पगडंडी है।

अश्व-रत्न

भरत चक्रवर्ती के अश्व की ऊंचाई अस्सी अंगुल, मोटाई निन्यानबे अंगुल तथा लंबाई एक सौ आठ अंगुल की थी। चक्रवर्ती का अश्व देव, मन, पवन और गरुड से भी अधिक गति वाला होता है। ऋषि की भांति क्षमाशील और सुशिष्य की भांति विनीत होता है। यह विषम मार्गों और गिरि-कंदराओं को लांघने में समर्थ होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अश्व-रत्न है—आपकी वाणी, आपके प्रवचन तथा विचार। विचारों की गति इतनी तीव्र और निर्बाध है कि उसे न समुद्र रोक सकता है, न पर्वत, न क्षेत्रीय दूरी बाधक बनती है, न काल का प्रवाह।

कम्प्यूटर और इंटरनेट ने आज क्षेत्र और काल की सारी सीमाएं तोड़ दी हैं। आपके विचार आज स्वदेश की सीमाओं से कहीं दूर विदेश की धरती तक पहुंच चुके हैं। समूचा विश्व आपके प्रवचनों से अनुप्राणित हो रहा है।

गज-रत्न

चक्रवर्ती का गज-रत्न अनेक गुणों से युक्त होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का गज-रत्न है—आपके सेवार्थी साधु-साध्वियां, जो आपके इंगित की अराधना के लिए हर क्षण तत्पर रहते हैं।

आपके विनीत और समर्पित साधु-साध्वियों ने सेवा के क्षेत्र में अपनी अलग और विशिष्ट पहचान बनाई है। सेवा में नियुक्त साधु-साध्वियां उदार और विशाल हृदय से वृद्ध, अक्षम और ग्लान साधु-साध्वियों की अग्लान भाव से सेवा करते हैं। उन्हें शारीरिक और मानसिक समाधि पहुंचाते हैं। इसके साक्षी है तेरापंथ के सेवा केंद्र।

पुरोहित-रत्न

चक्रवर्ती के उपद्रव उपशमन के लिए शांतिपाठ कराने में कुशल होता है पुरोहित-रत्न। यह ज्योतिष, स्वप्न, लक्षण आदि का ज्ञाता होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का पुरोहित-रत्न है आपकी बहुश्रुत-प्रज्ञा और मंत्र-साधना।

आपकी मंत्र-साधना संघ का अभेद्य कवच है। संघ का अनिष्ट करने वाली बाह्य शक्तियां इस कवच से टकराकर स्वयं ही खंड-खंड होकर बिखर जाती हैं। आपके आभामंडल में बैठने मात्र से आवेग और आवेश शांत हो जाते हैं। व्यक्ति अपूर्व आनंद से भर जाता है।

गृहपति और वर्धकी-रत्न

चक्रवर्ती का गृहपति-रत्न यव आदि सब धान्यों तथा शाक-सब्जियों को निष्पन्न करने में कुशल होता है। वह सुबह बोये धान्यों को उसी दिन सूर्यास्त से पहले हजारों कुंभों में भरकर चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित कर देता है।

चक्रवर्ती का वर्धकी-रत्न ग्राम, नगर स्कंधावार, गृह, आपण की विभागपूर्वक रचना करता है। वह वास्तुकला के इक्यासी पदों का अभिज्ञ होता है। वह अंतर्मुहूर्त में ही भवन, छावनी की रचना कर देता है तथा चक्रवर्ती के लिए श्रेष्ठ पौधशाला का निर्माण कर देता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का गृहपति और वर्धकी-रत्न हैं—आपके श्रावक-श्राविकाएं। जो संयम मात्र के निर्वाह हेतु शुद्ध आहार-पानी का दान देकर धन्यता का अनुभव करते हैं।

वर्धकी-रत्न के तुल्य हैं आपके दायित्वशील श्रावक, जो जंगल में भी मंगल ग्राम बसा देते हैं। बहुत ही बड़े काफिले के साथ जब आपकी यात्रा एक गांव से दूसरे गांव, एक नगर से दूसरे नगर को अपने कदमों से मापती हुई आगे बढ़ती है, तब उस यात्रा के दौरान प्रतिदिन एक छोटा-सा गांव बस जाता है। दूसरे दिन सारी सामग्री को समेटकर अपनी मंजिल के लिए प्रस्थान कर देता है। पंडाल बनाना, यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था करना, उनके लिए बिजली-पानी की व्यवस्था करना, अनिवार्य अपेक्षाओं को पूर्ण करना—इन सब दायित्वों को ओढ़कर श्रावक इस अग्नि-परीक्षा में उतरते हैं और अपने श्रम तथा दृढ़-संकल्प से इसे सफल बनाने का प्रयत्न करते हैं।

सेनापति-रत्न

चक्रवर्ती का सेनापति-रत्न महापराक्रमी, ओजस्वी, तेजलक्षण से युक्त होता है। म्लेच्छ भाषाओं का ज्ञाता तथा मृदुभाषी होता है। अर्थशास्त्र में कुशल होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का सेनापति-रत्न है—आपकी शक्ति से संपन्न युवाचार्य महाश्रमण।

प्रथम दर्शन में ही दिखाई देता है कि वे संयम से अनुप्राणित वाणी के अधिष्ठाता हैं। उनका मन अध्यात्म में पगा हुआ है और साधना से सधा हुआ तन है। उनके जीवन का हर क्षण गुरु-दृष्टि की आराधना के लिए समर्पित है। उनकी रग-रग में संघ-विकास की गूंज है। ऐसे समर्थ और समर्पित व्यक्तित्व के हाथ में ही संघ की भावी बागडोर थमी है।

स्त्री-रत्न

चक्रवर्ती का स्त्री-रत्न है—श्रीदेवी, जो सर्व शुभ लक्षणों से संपन्न होती है। वह सौंदर्य का मूर्त रूप होती है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का सौंदर्य है—नेत्रों में झलकती करुणा, वाणी में थिरकती कोमलता और भावों में तैरती वीतरागता।

आपके आंतरिक सौंदर्य के आगे सारे बाह्य सौंदर्य बौने पड़ जाते हैं। चक्रवर्ती के रत्नों की सीमा है, लेकिन आपके रत्नों पर न काल का पहरा है, न क्षेत्र की सीमा है। इसलिए आप चक्रवर्ती के भी महाचक्रवर्ती हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की तुलना चक्रवर्ती के चौदह रत्नों से करना यद्यपि कोई मानी नहीं रखता, उनके अवदानों की तुलना तो अमाप्य है। अपने संयम-पूर्ण जीवन के पचहत्तर वर्ष के पर्याय में आप सदैव अकिंचन रहे, पर 'सत्ता के शिखर' आपकी चरण-रज पाकर अभिभूत होते रहे, विराट् की अनुभूति से आप्लावित होते रहे। बिंदु से विराट् को पालने की आपकी क्षमता ने भौतिकता की चकाचौंध को तो निष्प्रभावी बनाया ही, 'अपरिग्रह परमोधर्मः' के आपके निनाद ने समाज को इस चकाचौंध से मुक्त होने की राह दिखाई। ❖

मनुष्य का यह देह एक देवपुरी है। इसके नौ द्वार हैं और इसके अंदर आठ चक्र हैं—ज्ञानकेंद्र है। इस देवनगरी के अंतरतम स्थान में एक स्वर्ण की कांति वाला ज्योतिपूर्ण अधिष्ठान है। वह सत्व, रज, तम के तीन स्तंभों से सुरक्षित है। इस देवपुरी का जो अधिष्ठाता है वही ब्रह्मा है। उस स्वरूपावस्थित आत्मा को जानने वाला ही ब्रह्मविद् होता है।

—**अथर्ववेद** 10.2.31–32

भारतीय ऋषि परंपरा में विनम्रता के संस्कारों का वपन किया गया है। अध्यात्म-प्रधान भारत देश में किसी भी कार्य की शुरुआत से पूर्व अभिभावकों तथा गुरुजनों से आशीर्वाद लिया जाता है। आशीर्वाद लेने के लिए प्रायः माता-पिता तथा गुरु-चरणों में प्रणाम किया जाता है। सिंदूर प्रकर ग्रंथ में आचार्य सोमप्रभ ने गुरु के चरणों में नमस्कार करने को सिर के आभूषण के रूप में स्वीकार किया है।

शिरसि गुरुपाद प्रणमनम्

❑ साध्वी विश्रुतविभा

एक भक्त ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को एक टेलीविजन चैनल पर प्रवचन करते हुए देखा। देखकर वह मंत्रमुग्ध हो गया। अहमदाबाद के चातुर्मासिक प्रवास में वह भक्त आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की सन्निधि में पहुंचा। साक्षात्कार होते ही उसकी आंखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो गई। भावविभोर होकर कहने लगा—'आज मैं धन्य-धन्य हो गया, निहाल हो गया, प्रभु के साक्षात् दर्शन मुझे प्राप्त हो गए।' इतना कहकर महाप्रज्ञ आचार्यश्री के चरणों में उसने अपना सिर रख दिया। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो किसी अलौकिक ऊर्जा से वह ओत-प्रोत हो रहा हो। उसी समय उसने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरणों का एक चित्र लिया और उन चरणों की प्रतिकृति को अपने मंदिर में स्थापित कर दिया।

सहज ही मस्तिष्क में प्रश्न उभरता है कि उस भक्त ने चरणों के प्रतिबिंब को इतना महत्त्व क्यों दिया?

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही 'चरण' का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ने जब वनवास की ओर प्रस्थान किया तब राज्य का शासन-सूत्र भरत के हाथों में थमा दिया। उस समय भरत ने राम की चरण-पादुकाओं को सिंहासन पर स्थापित किया और कहा—आज से मैं इन चरण-पादुकाओं की साक्षी से समग्र राजकीय कार्यों का संचालन करूंगा। पादुकाओं में राम के चरणों का आरोपण कर भरत ने अपने दायित्व का बखूबी वहन किया।

पदाभिरोहण
हर्षाभिवंदन

भगवान श्रीराम के चरण स्पर्श से पत्थर के रूप में परिणत अहल्या साक्षात् देहधारी अहल्या के रूप में बदल गई। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानंद के वक्षस्थल पर अपने चरण टिकाकर उनकी सुप्त-शक्ति को जाग्रत कर दिया।

भारतीय ऋषि परंपरा में विनम्रता के संस्कारों का वपन किया गया है। अध्यात्मप्रधान भारत देश में किसी भी कार्य की शुरुआत से पूर्व अभिभावकों तथा गुरुजनों से आशीर्वाद लिया जाता है। आशीर्वाद लेने के लिए प्रायः माता-पिता तथा गुरु-चरणों में प्रणाम किया जाता है। सिंदूर प्रकर ग्रंथ में आचार्य सोमप्रभ ने गुरु के चरणों में नमस्कार करने को सिर के आभूषण के रूप में स्वीकार किया है—

शिरसि गुरुपाद प्रणमनम्।

'रामचरितमानस' के रचनाकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी गुरु के चरणों में भक्तिपूर्वक वंदना की है—

बंदउं गुरु पदपंकज, कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।।

मैं गुरु के चरण-कमल की वंदना करता हूं, जो अनुग्रह के समंदर हैं और मनुष्य के रूप में साक्षात् भगवान हैं, जिनके वचन महामोह रूपी सघन तिमिर का क्षय करने के लिए सूर्य की रश्मियों के समूह के समान हैं।

आचार्य सिद्धसेन ने कल्याणमंदिर स्तोत्र में भगवान पार्श्व के पाद-पद्मों को नमस्कार करके उनकी स्तुति का संकल्प अभिव्यक्त किया है—

कल्याणमन्दिर मुदारमवद्य-भेदी
भीताभय-प्रदमनिन्दित मङ्घ्रिपद्मम्।
संसार - सागर - निमज्जदशेष - जन्तु-
पोतायमानमभिनभ्य जिनेश्वरस्य।।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'वीतराग स्तोत्र' में महावीर के चरणों की शरण को स्वीकार कर शक्ति का अनुभव किया है—

एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन्न चाहमपि कस्यचित्।
त्वदङ्घ्रिशरणस्थ मम दैन्यं न किञ्चन।'।17.7।।

प्रस्तुत ग्रंथ में न केवल चरणों की शरण को ही स्वीकार किया है, अपितु चरणरज को पवित्र अणुओं के समान समझकर चिरकाल तक ललाट पर लगाए रखने की कामना की है—

पादपीठलुठन्मूर्घ्नि मयि पादरजस्तव।
चिरं निवशतां पुण्यपरमाणुकणोपमम्।।

'भक्तामर स्तोत्र' में आचार्य मानतुंग ने आदिनाथ का स्तवन किया है। उसके प्रारंभ में उन्होंने ऋषभ के चरण-युगल में अभिवंदना प्रस्तुत की है—

भक्तामर प्रणत-मौलिमणि प्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पाप-तमोवितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।

प्रस्तुत स्तोत्र में भगवान ऋषभ की चरणरज को औषधि के रूप में स्वीकार किया है। शारीरिक दृष्टि के रुग्ण व्यक्ति उनकी चरणरज का शरीर पर अवलेप करे तो उसका शरीर कामदेव की तरह सुंदर हो सकता है।

उद्भूतभीषण जलोदर भारभुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत जीविताशाः।
त्वत्पाद पंकजरणोऽमृत दिग्धदेहा
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः।।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भी 'चरण-शक्ति' का विश्लेषण किया है—'मनुष्य का शरीर अवयवी है। वह अनेक अवयवों की संधि से बना हुआ है। उसके सिर पर आकाश है और पैरों के तले धरती। जिसके पैर धरती पर टिके होते हैं, उसका आकाश भी स्वच्छ होता है। यदि हम मस्तिष्क को आकाश मानें तो चरण मनुष्य की आधारभूत धरती है। धरती से चरण का सीधा संपर्क होता है। उसके माध्यम से धरती के सारे तत्त्व सिर तक पहुंचते हैं। मनुष्य के शरीर में मस्तक का बहुत महत्त्व है, किंतु पैर का महत्त्व भी कम नहीं है।'

एक्यूपंचर चिकित्सा पद्धति के अनुसार पैर शरीर का महत्त्वपूर्ण अवयव है। उसके तल में संपूर्ण शरीर के अवयव विद्यमान हैं। वहां आंखें, कान, मस्तिष्क, हृदय, लीवर, पेनक्रियाज, आमाशय, फेफड़े आदि सभी अवयव हैं। इसके अतिरिक्त पैर में पीनियल, पिच्यूटरी, थाइराइड, थायमस आदि ग्रंथियां भी हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरण विलक्षण हैं। उनके दर्शन करते ही बरबस दृष्टि चरणों पर थम जाती है। हृदय की समस्त कोमल भावनाएं उनके चरणों में समर्पित हो जाती हैं। यह अनुभूति किसी व्यक्ति-विशेष की नहीं, अपितु हजारों-लाखों भक्तों की है, जिन्होंने उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया है तथा जिन्होंने किसी भी माध्यम से उनकी सन्निधि का अनुभव किया है, कर रहे हैं।

अद्भुत और अलौकिक हैं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरण—जिनके परिपार्श्व में हर शिष्य अपूर्व उल्लास की अनुभूति करता है। पारस पत्थर लोहे का रूप बदलकर उसे सोना तो बना देता है, पर उसके जड़त्व को दूर नहीं करता। किंतु आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरणों का स्पर्श शिष्य की जड़ता ही नहीं हरता, उसके हृदय-सागर में ज्ञान, शक्ति और आनन्द की उर्मियों को तरंगित कर देता है। शिष्य की आकृति और प्रकृति को भी रूपांतरित कर देता है। उसके जीवन में नया परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरणों का स्पर्श मात्र स्पर्श नहीं रहता, वह स्पर्शयोग बन जाता है। उनके चरणों को छूकर शिष्य शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक आरोग्य को प्राप्त करता है। दर्शक आते हैं और उनके चरणों में अपना मस्तक रख देते हैं। क्यों? शरीर-विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में ऊर्जा बहिर्गमन के तीन स्थान हैं—आंखें, हाथ और पैर के अंगूठे और अंगुलियां। इन सबके माध्यम से शक्ति का बाह्य जगत् में संप्रेषण होता है। गुरु-सन्निधि के दुर्लभ क्षणों में शिष्य गुरु की स्नेहिल दृष्टि से आप्यायित हो जाता है। गुरु के नेत्रों से निसृत ऊर्जा सहज रूप में शिष्य को उपलब्ध होती है। साक्षात्कार के समय गुरु अपना हाथ शिष्य के सिर पर टिकाते हैं, शिष्य उस दिव्य-हस्त की ऊर्जा से अंतहीन आनंद का अनुभव करता है। शिष्य जब गुरु के चरणों में प्रणाम करता है, उस समय गुरु के अंगुष्ठ

शेष पृष्ठ 56 पर

'यह कैसा पागलपन है? अब यदि तुम्हारी बेटी आए भी तो केवल भूत के रूप में ही आ सकती है। प्रेत के रूप में ही आ सकती है। अगर वह आ जाए तो तुम ही डर जाओगी। 'यह भूत भगाइए' कहकर मेरे पास ही भागी आओगी। ऐसा नहीं करो, बहन। इस समय दुख में तुम्हें ऐसा लग सकता है। बाद में ठीक हो जाएगा। हमें किसी बात का लालच नहीं करना चाहिए। भगवान से यह दो, वह दो, ऐसा मांगना भी नहीं चाहिए। जो वह देता है उसे प्रसाद के रूप में संतोष से, तृप्ति से अपनाना चाहिए। यह बात मैंने एक वर्ष पहले नहीं कही थी? तुमने प्रार्थना की। एक बार लालच का परिणाम खराब निकला। अब दुबारा लालच मत करो। भगवान के संकल्प में, कार्यक्रम में जो-जो होता है उसे वैसे ही होने दो। उसे भी तो अपने यंत्र में एक तरफ से पुर्जे उतारकर दूसरी तरफ डालने पड़ते हैं। जो है, उसमें परिवर्तन होना चाहिए, कहें तो कैसे?'

गुरु की महिमा

❑ ए. आर. कृष्णशास्त्री

'स्वकर्मसूत्र ग्रंथितो हि लोकः'—अध्यात्म रामायण।

एक परिवार में केवल लड़कियां ही थीं। मां को एक बेटा पाने की बड़ी लालसा थी। वह नहीं हो सका। अतः उसने अंतिम बेटी और उसके पति को घर में ही रख लिया। दामाद को बेटे के समान पाला। ऐसी स्थिति में पता चला कि एक गुरु हैं, जो मनोकामना पूरी करते हैं। उनकी सेवा करके उस महिला ने एक पुत्र पाने का हठ किया। उसके लाख मना करने पर भी उसने नहीं माना। कुछ का कुछ हो गया। उसके पेट से लड़का पैदा होने के बदले उसकी बेटी ने एक बेटे को जन्म देकर प्राण त्याग दिए। उसे पालने का भार उस पर पड़ा। यह है कहानी :

मां का दुख, गुरु की सांत्वना—इन दोनों के संघर्ष का वर्णन कठिन होगा। इसलिए उसका सार दिया है।

'क्या बात है बहन, इस प्रकार घर-बार छोड़कर वनवास लेकर कष्ट उठा रही हो।'

'अब मेरे लिए अपने परिवार में रखा ही क्या है? उसे चलाने वाले चला रहे हैं।'

'ऐसा क्यों कहती हो बहन, तुम्हारा तो भरा-पूरा परिवार है। बेटे, पोते हैं।'

'चाहे कोई हो, मेरा अपना कोई नहीं है।'

'वे सब तुम्हारे नहीं?'

'उसमें क्या? सारी दुनिया मेरी है।'

'जी हां। वह बहुत बड़ी बात है। वही सत्य है।'

'मुझे सत्य लगने पर ही सत्य होगा।'

'यह भी सही है।'

'जिन्होंने भी इस स्थान को देखा है, यही कहा कि यहां सत्य है। इसलिए मैं यहां आई हूं। मुझे सत्य दिखाई दे तब न वह सत्य होगा?'

'इसमें कोई गलत नहीं। पर कितने दिनों तक तुम घर-बार छोड़कर यहां रह सकती हो, बहन?'

'मेरा काम पूरा होने तक।'

'जो काम होना है, वह तो तुम जहां भी रहो हो ही जाता है।'

'तो देवी-देवता, गुरु, सेवा-पूजा इन सबकी क्या जरूरत है?'

'तो मेरे आने के बाद यहां बहुतेरे आए और कुछ समय रहने के बाद आने वालों का उद्देश्य पूरा होते ही अपने-अपने गांव लौट गए?'

'वह उद्देश्य तो उनके अपने-अपने गांवों में भी हो ही जाते, जो पेड़ पर ही पक रहा था। उसे यहां लाकर पकाकर ले गए बस।'

'गांव में रहकर मुझे जो-कुछ करना था, वह करके थक गई। जो भी व्रत-नेम जानती थी, सब किए। पूजा-पाठ किया। कोई लाभ नहीं हुआ। इसलिए अपने कार्य के पूरा होने तक रहने का पक्का निश्चय करके आई हूं।'

'अवश्य ठहरो बहन, मेरे ऊपर कोई भार नहीं है। भगवान की सेवा कोई खराब चीज नहीं। पर मन में बहुत लालसा रखकर की गई सेवा से कोई फल नहीं मिलता।'

'यह तो अजीब-सी बात है। सेवा तो किसी इच्छा से ही की जाती है। भला इच्छा के बिना कोई सेवा हो सकती है? मुफ्त में कौन परिश्रम करता है?'

'तुम्हारा कहना भी सही है। सब किसी-न-किसी आशा से परिश्रम करते हैं। उस परिश्रम का फल अवश्य मिलता है। पर यह कहा नहीं जा सकता है कि आपकी इच्छा के अनुसार फल प्राप्ति होगी या नहीं।'

'क्या यह बात सुनने ही मैं यहां आई हूं? इतने दिन सेवा करने का क्या यही फल है?'

'बहन, सत्य तो एक ही होता है। सदा एक ही। जो उसे नहीं चाहते, उनको वह पसंद नहीं आता। मिथ्या के कई रूप होते हैं और वे अच्छे भी लगते हैं।'

'सत्य-मिथ्या, हित-अहित इस वेदांत का उपदेश सुनने यहां नहीं आई, मुझे वह सब नहीं चाहिए।'

'नहीं चाहिए, माने कैसे चलेगा, बहन? अंत में सबको मिलने वाली चीज वही है, हम नहीं चाहें तो भी वह नहीं छोड़ती।'

'अब तो मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। मैं और कुछ चाहती भी नहीं।'

'तो तुम क्या चाहती हो?'

'मैंने तभी कह दिया। फिर से कहना पड़ेगा क्या? यहां आने पर किसी को कुछ मांगना ही नहीं पड़ता। गुरुजी की दृष्टि पड़ने-भर से ही काम बन जाता है। गुरुजी किसी से बात तक नहीं करते—मैंने यही सुना था।'

'ठीक है बहन, मैंने अब तक किसी से भी इतनी बातें नहीं की थी। सब अपना-अपना काम पूरा करके प्रसाद लेकर चले जाते। मैंने किसके लिए क्या किया? और मैं क्या कर सकता हूं?'

'पर मेरा काम नहीं बनेगा, इतना कहने के लिए मुझसे इतनी बातें कर रहे हैं?'

'मैं क्या करूं बहन? काम होना या न होना क्या मेरे अधीन है?'

'तो और किसके अधीन है?'

'भगवान के अधीन है।'

'उसी से कराइए।'

'वे क्या मेरे अधीन हैं?'

'तो आप गुरुजी क्यों कहलाते हैं?'

'यह तो लोगों का अपना-अपना विश्वास है, बस।'

'तो मेरी सेवा का कोई फल नहीं?'

'श्रम का फल नहीं होता है। पर कामना से कोई सेवा करे तो कर्म और भी बांध लेता है।'

'भले ही बांध ले।'

'इससे भगवान को भी बाधा होती है।'

'होने दीजिए, उन्होंने अपनी सेवा क्या यों ही करा ली?'

'तो इस प्रकार व्यापार करने चलो तो वह भी बनिया बन जाता है।'

'बनने दीजिए।'

'अगर वह ये कहे कि आपकी सेवा पर्याप्त नहीं, साथ में कोई ठोस चीज दें तो?'

'दी जा सकती है।'

'क्या दी जा सकती है?'

'जो चाहे दे दीजिए।'

'जो चाहे देना संभव है क्या? तुम बच्चा चाहती हो, तुम्हें भगवान ने वह दे दिए हैं। अब एक बेटा पैदा हो जाए तो तुम उसे भगवान को दे दोगी?'

'भगवान को देने के लिए मां बन रही हूं क्या?'

'और क्या बहन, तुम्हारा हिस्सा भगवान ने तुम्हें दे दिया है।'

'जो है उसमें से किसी को दे दिया जाए तो काम नहीं चलेगा?'

'जो बच्चे हैं, उनमें किसको दे सकोगी? क्या वे तुम्हारी संपत्ति हैं? उन सबको तो तुमने पहले ही दान नहीं कर दिया?'

'दान कर दिया तो क्या हुआ? वे मेरी चीजें नहीं हैं?'

'जी नहीं।'

'तो यूं कहिए कि यहां मेरी आशा पूरी नहीं होगी। मैं यहीं रहकर देह छोड़ देती हूं। मुझे गांव जाकर करना भी क्या है?'

'अच्छी तरह से सोचकर बताओ, जल्दबाजी न करो। बाद में कोई चिंता नहीं हो। उनके बदले एक लड़का....'

'हाय राम, ऐसा क्यों कहती हो बहन! बेटियां क्या संतान नहीं होतीं?'

'वे कैसी संतान! जब तक रहती हैं तब तक सेवा कराती हैं। बाद में चली जाती हैं। समय पर हमारे कोई काम नहीं आती हैं। जब घर में रहती हैं, हमारी बेटी होती हैं। पति के घर जाकर उनकी हो जाती हैं। उनका अपना परिवार हो जाता है। वे कोई बहुओं की तरह होती हैं? यह बात कहने की है कि घर में रहेगी?'

'सारे बेटे वालों के घरों में क्या बहुएं आ जाती हैं? जो भी आती हैं, वे साथ ही रहती हैं? यदि रह भी जाए, उनसे सुख मिलता है? यह सब ऋणानुबंध है, किसके लिए कौन होता है?'

'होंगे ही, इसी आशा से तो मांगते हैं। अगर नहीं होते तो कौन मांगता?'

'वह हमारे बस में है क्या बहन?'

'भले ही भगवान की इच्छा हो। इसीलिए तो उससे ही मांगती हूं, उसे दिलाने के लिए आपसे कह रही हूं। नहीं तो यहां क्यों आती?'

'भगवान भी तो नया कहां से देता है, बहन? जो है उसमें ही जरा फेर-बदल करते हैं। अब जो उसे पसंद न करो तो पांवों को उठाकर सिर पर रखने की तरह हो जाता है। पांव को सिर पर चढ़ा देता है। तब लक्षण बिगड़ जाता है। उलट-पुलट हो जाता है। क्या हम उसे पसंद करेंगे?'

'मुझे वह वेदांत नहीं चाहिए। मैंने अपनी इच्छा बता दी है। चाहे जो हो जाए।'

'भगवान का संकल्प तो मैं जानता नहीं। मुझे क्यों इस पाप का भागीदार बना रहा है। तेरी मर्जी ठीक है! लो बहन, इस डिब्बी में से कुंकुम लगा लो। अगले वर्ष बच्चा लेकर भगवान के दर्शनों को आना।'

2

'क्यों बहन, बच्चे को उठाकर लाई हो? आओ!'

'मेरे भाग्य में वह पुण्य कहां?'

'तो यह किसका है?'

'यह एक अनाथ बालक है। मां नहीं है!'

'क्यों तुम तो हो न? तुम ही उसकी मां हो।'

'यह मेरा नहीं महाराज, मेरी बेटी का है। वह इसे और मुझे भी अनाथ बनाकर चली गई।'

'उसने इसे अनाथ नहीं किया। तुम्हें भी अनाथ नहीं किया। यह तुम्हारा सहारा है। तुम इसके लिए सहारा हो।'

'तो क्या मैंने यही मांगा था?'

'तो और क्या? बेटा मांगा था, भगवान ने दे दिया।'

'बेटी चली जाए, अनाथ बच्चे को पालने का जिम्मा मेरे गले में डाल जाए?'

'उसे तुमने ही मांगा था, बहन! क्या तुमने यह नहीं कहा था कि भले दो बेटियां कम हो जाती, पर एक बेटा होता?'

'ऐसा तो मैंने कहा था। पर यह कह देने-भर से हो जाता है—ऐसा तो मेरे मन में नहीं था।'

'तुमने वही मांगा था। भगवान ने भी वही दिया।'

'मां के मर जाने के बाद कोई अनाथ बच्चा मेरा हो सकता है? इस उमर में इसे गले में डालकर खटती रहूं?'

'और भगवान भी क्या कर सकता है, बहन? फूल के बिना पेड़ कैसे दे सकता है? अपना बेटा भले ही न सही, पाला हुआ तो हो गया? दोहता घर का बेटा नहीं होता क्या? दोहतों को दत्तक नहीं लिया जाता?'

'बस कीजिए महाराज, यह धर्मशास्त्र! इस बच्चे को मैं पाल नहीं सकती। चाहे कोई पाल ले। आप इसे अपने मठ में रख लीजिए। मुझे अपनी बेटी दे दीजिए। उसे क्या मैंने बेटी के रूप में पाला था? उसे तो मैंने बेटे और बेटी दोनों के रूप में पाला था।'

'ठीक है बहन, उसके लिए क्या कर सकता हूं? और कौन इसे लेगा, इस बच्चे का भला मैं क्या करूं? मेरा कोई ठिकाना है?'

'नहीं, मुझे नहीं चाहिए। मुझे अपनी बेटी चाहिए।'

'यह कैसा पागलपन है? अब यदि तुम्हारी बेटी आए भी तो केवल भूत के रूप में ही आ सकती है। प्रेत के रूप में ही आ सकती है। अगर वह आ जाए तो तुम ही डर जाओगी। 'यह भूत भगाइए' कहकर मेरे पास ही भागी

आओगी। ऐसा नहीं करो, बहन। इस समय दुख में तुम्हें ऐसा लग सकता है। बाद में ठीक हो जाएगा। हमें किसी बात का लालच नहीं करना चाहिए। भगवान से यह दो, वह दो, ऐसा मांगना भी नहीं चाहिए। जो वह देता है उसे प्रसाद के रूप में संतोष से, तृप्ति से अपनाना चाहिए। यह बात मैंने एक वर्ष पहले नहीं कही थी? तुमने प्रार्थना की। एक बार लालच का परिणाम खराब निकला। अब दुबारा लालच मत करो। भगवान के संकल्प में, कार्यक्रम में जो-जो होता है उसे वैसे ही होने दो। उसे भी तो अपने यंत्र में एक तरफ से पुर्जे उतारकर दूसरी तरफ डालने पड़ते हैं। जो है, उसमें परिवर्तन होना चाहिए, कहें तो कैसे?'

'यदि ऐसे ही बेटे की प्राप्ति होनी थी तो यह पहले ही हो सकता था न?'

'ऐसा बेटा भी तो है न, बहन।'

'नहीं था, इसीलिए तो मैंने यहां आकर शरीर गलाया।'

'घर में ही, पला-पलाया बेटा है, ऐसा क्यों कहती हो?'

'कहां? कौन-सा?'

'आपका दामाद।'

'वाह! मैं यह युक्ति की बात सुनने के लिए ही यहां आई क्या? दामाद बेटा नहीं है। बहू बेटी नहीं होती। यह बात आपने सुनी नहीं?'

'तुम्हीं तो उसे खोज-पसंद करके ले गई।'

'उसे घर-जमाई बनाने के लिए एक अनाथ को चुनकर लाई। उसे घर में रखकर बेटे से भी ज्यादा प्यार से पाला। उसने भी एक अच्छे लड़के के रूप में नाम पाया। अब कौन-सा लड़का उससे ज्यादा प्यार दिखाएगा। बहुत-से लोग जो उसे जानते नहीं, उसे तुम्हारा बेटा ही समझते हैं। बेटी को बहू समझते हैं।'

'ऐसा ही हुआ।'

'वह कैसे?'

'दामाद को ही जाना था, पर उसके बदले में बेटी चली गई।'

'दामाद को क्यों जाना था?'

'उसका कर्म जो है।'

'उसने ऐसा कौन-सा कर्म किया था।'

'पता नहीं पहले क्या किया था? अब तुम्हारी आंखों के सामने किया नहीं? कर नहीं रहा है? हंसते-हंसते जो किया जाता है, उसे रोते-रोते भोगना पड़ता है।'

'ऐसा पाप का कार्य उसने तो नहीं किया, महाराज! वह पुलिस में नहीं है, जज नहीं है, चोर-चकार नहीं है, किसी को मारा नहीं। किसी को सताया नहीं। दूसरों से जोर से बात तक नहीं करता।'

'सच है, इसीलिए तो उसे एक अच्छा लड़का कहा था, सभी कहते हैं। अरे बच्चा रो रहा है। उसे गोद में लो और चुप कराओ।'

'उसकी मां नहीं रही। अनाथ हो गया है। भला मैं कैसे चुप करा सकती हूं। बच्चों को उठाने की आदत भी तो नहीं रही।'

'उठा लो। आदत हो जाएगी। अब उठाकर देखो, चुप हो जाएगा। वह समझता है कि उसकी मां आप ही हैं। तुम्हें यह सोचना चाहिए कि वह तुम्हारा ही बेटा है, तभी भगवान का संकल्प पूरा होता है।'

'जरा दूध हो तो मंगवा दीजिए। पिलाकर देखती हूं।'

'भिखारी के पास भला दूध कहां से आएगा, बहन? लो यह चरणामृत लो। उठो, उठकर आओ। तसल्ली दो। जैसे तुम अपनी बेटी के लिए, दामाद के लिए मां हो, वैसे इस बच्चे के लिए भी मां हो। उससे भी ज्यादा तुम मां... पहले तुम अपने को तसल्ली दो। बच्चे को जरा थपथपाओ। देखो, अब उसे जरा शांति मिली। सो गया। अगर तुम भी अपने को शांत करो तो उसे भी शांति मिलेगी। मैं भी शांति से रहूं तो तुम्हें भी शांति मिलेगी। हां, अब बताओ, कुछ कह रही थी?'

'मैं क्या कह रही थी?'

'जब बच्चा रोने लगा। तब तुम भी रो रही थी। यहां आकर मुझसे कुछ पूछना चाहती थी।'

'हां, मेरी बेटी क्यों मर गई?'

'यह कैसे बताऊं? कई धागे उलझकर गांठ पड़ गई थी। उसे सुलझाने में एक धागा टूट गया।'

'यह धागे की बात कहां उठी?'

'उसी को तो कर्मसूत्र कहते हैं।'

'इसका मतलब?'

'यह भी मेरे मुंह से निकलवाना चाहती है? कहा जाता है पाप कोई करता है, पर उसकी चर्चा करने वालों को

भी उसे भुगतना पड़ता है। वह सब क्यों? मुख्य बात यह समझो कि यह सब भगवान का संकल्प है?'

'बड़ा अच्छा है यह भगवान का संकल्प। सबके लिए भगवान का संकल्प, भगवान का संकल्प कहा जाए। वह कमबख्त भगवान, पता नहीं, बच्चे को पकड़कर कहां बैठा है?'

'हां बहन, भगवान के संकल्प के बिना एक तिनका भी नहीं हिलता।'

'मुझे यह सब समझ में नहीं आता। ऐसी कोई बात कहिए, जिसे मैं समझ सकूं।'

'ठीक है, तुम्हारी बेटी ने अपने पति के लिए प्राण दे दिए।'

'क्या, इसलिए उसे अपनी बेटी देकर घर में बसाया था?'

'दूसरों के लिए, उसमें भी अपने पति के लिए अपने प्राण से बढ़कर और क्या दिया जाए? जब तक वह रही उसने अपना प्रेम दिया, अंत में प्राण दे दिए। यदि उल्टा हो जाता तो वह घर में रोती-कलपती। उसे देखकर आप भी कलपती। लेने वाले, देने वाले, पास-पड़ोसी, देखने-सुनने वाले, आने-जाने वाले सब उसे ताने देते, घर वाले घर उजाड़ू कहकर उसका मुंह नोचते, यदि वह रहती तो क्या उसकी यह स्थिति देखकर तुम सहन कर पाती?'

'पता नहीं मैं क्या कर डालती?'

'राम! राम! वह दुख किसी पर न पड़े? हमारी जनता में घर से बिछड़ी लड़कियों की हालत.... किसी के लिए भी नहीं आए। अब से तब तुम ज्यादा दुखी होती। तुम्हारे साथ वह लड़की भी तुमसे सौ गुनी ज्यादा दुखी होती। पैदा होने के बाद सबको मरना ही है। कुछ आगे, कुछ पीछे। वह सुहागिन रहकर जितने दिन रही सबके मुंह से प्रशंसा पाकर चली गई। वह पुण्य सबके भाग्य में कहां?'

'इतनी छोटी आयु में ही जाना था? उसने तो न कुछ देखा, न भोगा।'

'यदि वह और जिंदा रहती, पता नहीं उसे क्या-क्या दुख देखना पड़ता। और आपको क्या-क्या कष्ट भोगना पड़ता। कौन जाने?'

'जीना केवल कष्ट उठाने के लिए है?'

'और क्या बहन, इस संसार में दुख के अतिरिक्त और क्या है?'

'कई लोग सुखी हैं न?'

'हैं, पता नहीं कितने लोग ऐसे हैं जो दूसरों के सुखों को लूटकर सुख भोगते हैं। इसके अतिरिक्त कौन जाने कि किस-किस बांबी में कैसा सांप है?'

'उसे अपने पति के लिए प्राण क्यों त्यागने थे? उसने क्या पाप किया था? उसने किसका सुख छीन लिया था? किससे अन्याय किया था? वह तो एक अध्यापक है। भला इसमें क्या धोखा दिया जा सकता है? झूठ, रिश्वत—इन सबके लिए वहां कोई मौका ही नहीं है। उसे तो बस सरकार का वेतन-भर मिल जाता है। उसने ऐसा कौन-सा कर्म कर दिया?'

'तुम्हारा कहना ठीक है, बहन। पर मालूम है कि वह कौन-सा पाठ पढ़ाता है? पाठ पढ़ाते समय वह कौन-सा कर्म करता है, वह मालूम है?'

'मुझे क्या मालूम? बी. ए. के बाद कोलकाता दो साल पढ़ने के लिए गया। नौकरी मिल गई।'

'भला तुम्हें और क्या पता लग सकता! जब वह वहां पढ़ रहा था और जब यहां पाठ पढ़ा रहा था, तब रोज प्राणियों का वध करना पड़ता, काटना पड़ता और टुकड़े-टुकड़े करना पड़ता।'

'हाय राम!'

'हां बहन, चाहो तो उससे पूछ लो। उस सबका फल कहां जाएगा?'

'तो क्या वह पाठ और कोई नहीं पढ़ाता? उन सबको ऐसा होता है? कसाई क्या करते हैं? रोज गाय काटते हैं। उसे खाने वाले रोज खाते हैं। उन सबके साथ ऐसा होता है?'

'वह जिनको ठीक लग जाता है उनके लिए ठीक है। इसके अलावा कौन-कौन, किस-किस समय, किस-किस ढंग से दुख भोगता है? क्या यह हम देख सकते हैं, बहन?'

'इसके कर्म के लिए उसे क्यों मरना चाहिए था?'

'कई दिन संध्या को घर आकर 'सिर फट रहा है' कहकर वह लेट जाता। 'अजीब-सी थकावट है' बताता था, ठीक से भोजन नहीं करता था। सोता नहीं था। डॉक्टर के पूछने पर कुछ भी नहीं कहता, उनका स्वास्थ्य ठीक है। हट्टे-कट्टे हैं।... पर वह लड़की उस लड़के का दर्द देख नहीं पाती। भीतर ही भीतर तड़पती। सदा यही कहा करती 'हे भगवान! उनका संकट मुझे क्यों नहीं दे देते? उन्हें ठीक

क्यों नहीं कर देते?' वह लड़की पतिव्रता और सच्चरित्र थी। भगवान ने उसकी प्रार्थना सुन ली।'

'यदि यह पता होता तो उसे कोलकाता ही नहीं भेजती। उसके लिए हजारों रुपए खर्च भी नहीं करती। यह काम न होता तो कोई दूसरा काम मिल जाता।'

'भविष्य की बात को कौन जान सकता है, बहन?'

'आंखों को दिखाई देने पर बात मुंह से निकलनी चाहिए न?'

'मुंह से नहीं तो क्या हाथ से निकलती है?'

'यह सच है। बात मुंह से निकलती है, पर बहन मुंह को तो बोलना चाहिए न? मुंह भी बुलवाने पर ही वह बोल सकता है। वह तो केवल एक बांसुरी है। बजाने वाला उसे बजाए तभी तो वह बजती है।'

'यह चमत्कार की बातें क्यों?'

'चमत्कार नहीं बहन! यथार्थ है। भगवान के संकल्प को भला कौन टाल सकता है? इसके अतिरिक्त कहने की सारी बातें हमारे कानों में थोड़े ही पड़ती हैं। क्या हम उसे सुनेंगे भी? भगवान के हजारों मुंह होते हैं। पता नहीं कि किस मुंह से क्या कहते हैं। वह सब सुनने को कान भी तो चाहिए न। समझाने के लिए ज्ञान भी तो चाहिए न। तुम एक बार अपने गांव से आ रही थी, तब चेन्नपट्टण में एक आदमी रेल पर चढ़ा था। बात चल पड़ने पर उसने यही नहीं कहा कि कोलकाता जाने की क्या जरूरत है, भगवान चाहे तो यहां भी परीक्षा दे सकता है। तुमने उसकी बात क्यों नहीं सुनी? तुम्हारे पुरोहित ने यह नहीं कहा कि यह सब ब्राह्मणों के लिए ठीक नहीं है। उसकी बात की ओर तुमने ध्यान क्यों नहीं दिया? गाड़ी चलाने वाले हें-हें कहकर गाड़ी चलाते हैं। उसे न सुनकर गाड़ी के नीचे आ जाना चाहिए? देखो, बच्चा रो रहा है। बेचारा! उसे तुमने जमीन पर छोड़ दिया है।'

'रोने दीजिए, उसकी किसे जरूरत है?'

'क्या इसीलिए आपने उसे मांगा था?'

'क्या इसे मैंने मांगा था? मैंने इसे पाया?'

'और किसने मांगा? और दूसरे किसने पाया? जो भगवान देता है उसे अच्छी तरह संभालना चाहिए, बहन। नहीं तो वह भी नहीं मिलता।'

'तो क्या मैंने अपनी बेटी की अच्छी तरह देखभाल नहीं की? वह क्यों मेरी नहीं रही?'

'जो देखभाल की उससे इनकार किया जा सकता है, परंतु जितना आदर करना था उतना आदर नहीं किया। उस लड़की ने कितने दिन आंसू नहीं बहाए, तुमने कितने दिन यह नहीं कहा कि पता नहीं यह क्यों पैदा हो गई? अगर तुम्हारे घर का नौकर बाग के पेड़ों को सही ढंग से पानी न दे तो क्या तुम चुप रहोगी?'

'अरे, पेड़ों का सत्यानाश हो जाएगा।'

'संसार एक बाग के समान है, बहन। एक बार पेड़ बड़े हो जाने के बाद बढ़ते ही जाते हैं। पर हर पौधे को यदि न संभालें और उन्हें सूखने दिया जाए तो?'

'तो किसी को कुछ कहना ही नहीं चाहिए?'

'क्यों कहना चाहिए, बहन? कोई दूसरा कहे तो उसका जवाब दिया जाता है, कुछ भी न हो तो भी अपना अधिकार, अपना बड़प्पन अपनी संपत्ति दिखाने के लिए, दूसरे का दिल दुखाना? समझदार संतुलित व्यक्ति दुखी नहीं होते। मन को तसल्ली दो, बच्चे को पालो। जो अब है उनकी देखभाल करके प्रसन्न रहो। लो, कुंकुम लो। अपने गांव जाओ।'

'मुझे कुंकुम नहीं चाहिए। कुछ भी नहीं चाहिए। एक बार लेकर देख लिया न।'

'सुहागिन को ऐसा नहीं कहना चाहिए। वह पाप मेरे सिर पर मत मढ़ो। यदि हम स्वयं शांत न हों तो दूसरा कौन शांति दे सकता है, बहन? स्वयं भगवान भी आकर शांत नहीं करता। आखिर कौन किसका होता है? हमें अपने-आपको संभालना पड़ता है।'

'हां, जो मांगा था वह नहीं दिया और चीज की जिम्मेदारी सिर पर मढ़कर तसल्ली करने का कहो तो तसल्ली होती है? पुराने जमाने में एक गूंगा विवाह करना चाहता था। उसका विवाह न हो सका। लोगों ने उससे कहा—विवाह तो बच्चों को पाने के लिए किया जाता है, ये लो बच्चे, एक नहीं, दो नहीं, बल्कि तीन। इन्हीं को पालो। इतना कहकर उसे तीन पौधे दे दिए गए और खूब कमर झुकाकर पानी डलवाया गया।'

'यह सच है, बहन। मैंने भी वह कहानी सुनी है। पर हम भी मांगते हैं, देने को भला कौन कमर कसकर, हाथ बांधकर, आज्ञा पालन के लिए तैयार बैठा है, लो कुंकुम लो...।' ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता
संबोधन अलंकरण समारोह

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा संबोधन अलंकरण समारोह दिनांक 13 फरवरी, 2005 को श्रद्धेय आचार्यप्रवर के सान्निध्य में लाडनूं में मर्यादा महोत्सव के पावन अवसर पर समायोजित होगा।

श्रद्धेय आचार्यप्रवर द्वारा 1 जनवरी, 2004 से 31 दिसंबर, 2004 तक संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं अथवा उनके परिजनों को जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा लाडनूं मर्यादा महोत्सव के अवसर पर दिनांक 13 फरवरी, 2005 के विशेष कार्यक्रम में संबोधन सूचक प्रतीक चिह्न प्रदान किए जाएंगे। संबोधन प्राप्तकर्ताओं अथवा उनके निकटतम परिजनों के सम्मान में दिनांक 12 फरवरी, 2005 को सायं मिलन-गोष्ठी का कार्यक्रम भी रखा गया है। उक्त दोनों कार्यक्रमों में उपस्थित रहने हेतु सादर निवेदन है।

सुरेन्द्र चोरड़िया	**भंवरलाल सिंघी**	**तरुण सेठिया**
अध्यक्ष	संयोजक	महामंत्री

आचार्यप्रवर द्वारा इस अवधि में प्रदत्त संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की सूची—

क्र.सं.	नाम	निवासी	अलंकरण
1.	स्व. चंपालालजी सिंघी	श्रीडूंगरगढ़-कोलकाता	शासनभक्त
2.	श्री सवाईलाल पोखरना	फतहनगर	शासनसेवी
3.	श्री देवेंद्रभाई कर्णावट	राजसमंद	शासनसेवी
4.	श्री मोहनभाई जैन	सरदारशहर-राजसमंद	शासनसेवी
5.	श्री जोरावरमल सोनी	नाथद्वारा	शासनसेवी
6.	श्री फरजनकुमार जैन	दिल्ली	शासनसेवी
7.	श्री रतनलाल चौपड़ा	गंगाशहर	शासनसेवी
8.	श्री जतनलाल सेठिया	सरदारशहर	शासनसेवी
9.	स्व. भोजराजजी संचेती	मोमासर	शासनसेवी
10.	श्री जसकरण चोपड़ा	गंगाशहर-सूरत	शासनसेवी
11.	श्री ख्यालीलाल तातेड़	धानीन-मुंबई	शासनसेवी
12.	डॉ. विजयसिंह घोड़ावत	बीदासर-लाडनूं	शासनसेवी
13.	श्री जंवरीमल बैद	सरदारशहर-राजसमंद	शासनसेवी
14.	श्री मंगलचन्द लूंकड़	रायपुर	शासनसेवी
15.	श्री संपतमल गांधी	सरदारशहर-जयपुर	शासनसेवी
16.	स्व. स्वरूपचन्दजी चोरड़िया	भुसावल	शासनसेवी
17.	श्री कपूरचन्द भण्डारी	छोटी खाटू-हैदराबाद	शासनसेवी
18.	श्री स्वरूपचंद बरड़िया	सरदारशहर-दिल्ली	शासनसेवी
19.	श्री मूलचंद नाहर	जाणुन्दा-बैंगलोर	शासनसेवी

क्र.सं.	नाम	निवासी	अलंकरण
20.	श्री नानालाल छाजेड़	आमेट-मुंबई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
21.	श्री सुवालाल जोगड़	लोणार	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
22.	श्री लालचंद नाहर	देवलगांव माली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
23.	श्री कचरूलाल समदरीया	बीड़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
24.	श्री पुखराज चोपड़ा	खामगांव	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
25.	श्री प्रेमचंद जैन	हांसी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
26.	श्री बुधमल दूगड़ (जौहरी)	सरदारशहर-कोलकाता	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
27.	श्री नानकराम तनेजा	धुलिया	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
28.	श्री शान्तिलाल छाजेड़	चोपड़ा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
29.	स्व. रामचन्द्रजी पाटिल	बोराला	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
30.	स्व. कानराजजी बालड़	बायतु	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
31.	स्व. देवकरणजी गेलड़ा	बोरावड़-शहादा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
32.	स्व. पन्नालालजी चोरड़िया	भुसावल	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
33.	स्व. किशनलालजी लोढ़ा	मनमाड	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
34.	स्व. डॉ. रतनसिंहजी मुणोत	दोंडाइचा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
35.	स्व. चम्पालालजी लोढ़ा	अमलनेर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
36.	स्व. उत्तमचन्दजी सेठिया	जालना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
37.	स्व. कन्हैयालालजी डागा	सरदारशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
38.	स्व. भीखमचन्दजी सेठिया	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
39.	स्व. मूलचन्दजी रामपुरिया	उदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
40.	स्व. संपतराजजी समदड़िया	जोधपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
41.	स्व. भंवरलालजी डागा	देवगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
42.	स्व. पारसमलजी गोलच्छा	बाड़मेर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
43.	स्व. संपतमलजी चोरड़िया	छापर-सूरत	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
44.	श्री सोहनलाल बंब	आमेट	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
45.	श्री शान्तिलाल चपलोत	आकोला-मुंबई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
46.	श्री भैरूलाल नाहर	दिवेर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
47.	श्री भूरालाल पोरवाल	उदयपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
48.	श्री चुन्नीलाल पटवारी	चारभुजा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
49.	श्री लक्ष्मणसिंह कर्णावट	राजसमंद	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
50.	श्री गणेशलाल मादरेचा	केलवा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
51.	श्री कन्हैयालाल कच्छारा	आमेट	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
52.	डॉ. महेन्द्रकुमार कर्णावट	राजसमंद	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
53.	श्री सागरमल कावड़िया	राजसमंद	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
54.	स्व. अरविन्दजी नाहर	जाणुन्दा-चेन्नई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
55.	श्री शांतिलाल रूणवाल	चांदारूण-जयसिंगपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक

क्र.सं.	नाम	निवासी	अलंकरण
56.	श्री मिश्रीमल संचेती	बैंगलोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
57.	स्व. मोहनलालजी डागलिया	कोशीवाड़ा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
58.	श्री सूरजमल सुराना	पड़िहारा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
59.	श्री नारायण भाई	उल्हासनगर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
60.	श्री पारसराम भाई	उल्हासनगर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
61.	स्व. सोहनलालजी हीरावत	चूरू	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
62.	स्व. दुलीचंदजी बैद	राजलदेसर-कोलकाता	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
63.	श्री खेमचंद कांकरिया	साक्री	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
64.	स्व. चम्पालाल बैदमूथा	दोंडाइचा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
65.	स्व. सोहनलालजी इन्टोदिया	डोंबीवली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
66.	स्व. धनराजजी श्रीश्रीमाल	बालोतरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
67.	श्री अर्जुनलाल सिंघवी	नेरूल	जीवन विज्ञानसेवी
68.	श्री रमेशकुमार जैन	जलगांव	जीवन विज्ञानसेवी
69.	स्व. मास्टर कबूलचन्दजी जैन	सिसाय	आदर्श श्रावक
70.	श्रीमती सुनीला नाहर	मेहकर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
71.	श्रीमती कांता बहन	धुलिया	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
72.	श्रीमती किरणदेवी बरड़िया	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
73.	श्रीमती घूमाबाई वेड़भील	बोराला	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
74.	स्व. सोनी बाई मुणोत	जिन्तूर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
75.	स्व. भंवरी देवी भंडारी	खेरी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
76.	स्व. सीरू देवी दूगड़	सरदारशहर-कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
77.	श्रीमती अणछी देवी डूंगरवाल	दिवेर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
78.	श्रीमती सरोज देवी सेठिया	सरदारशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
79.	श्रीमती पुष्पा बागरेचा	राजसमंद	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
80.	स्व. पतासी देवी नाहटा	भादरा	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
81.	स्व. सोसर देवी कच्छारा	आमेट	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
82.	श्रीमती शांति देवी बोथरा	सरदारशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
83.	स्व. सोना देवी दुगड़	सादुलपुर-कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
84.	स्व. परमेश्वरी देवी	उल्हासनगर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
85.	स्व. इन्दिरा देवी सिंघी	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
86.	स्व. धन्नी देवी बाफना	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
87.	सूफी संत हैदर अली खान	चूरू	विलक्षण बालक

अलंकरण प्राप्तकर्ताओं के परिचय व फोटो यथाशीघ्र महासभा के प्रधान कार्यालय 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001 में भिजवाने हेतु सादर निवेदन है।

अज्ञेय की कविताएं

•

महावृक्ष के नीचे
(पहला वाचन)

जंगल में खड़े हो ?
महारूख के बराबर
थोड़ी देर खड़े रहो
महारूख ले लेगा तुम्हारी नाप।
लेने दो।
उसे वह देगा तुम्हारे मन पर छाप।
देने दो।

जंगल में चले हो ?
चलो चलते रहो।
महारूख के साथ अपना नाता बदलते रहो।
उस का आयाम
उस का है, बहुत बड़ा है।
पर वह वहां खड़ा है।
और तुम चलते हो चलते हुए ही भले हो।

वह महारूख है
अकेला है, वन में है।
तुम महारूख के नीचे—
अकेले हो, वन तुम में है।

•

महावृक्ष के नीचे
(दूसरा वाचन)

वन में
महावृक्ष के नीचे खड़े
मैं ने सुनी
अपनी दिल की धड़कन।
फिर मैं चल पड़ा।
पेड़ वहीं
धारा की कोहनी से घिरा
रह गया खड़ा।

जीवन : वह धनी है, धुनी है
अपने अनुपात गढ़ता है।
हम : हमारे बीच जो गुनी है
उन्हें अर्थवती शोभा से मढ़ता है।

•

छंद

मैं सभी ओर से खुला हूं
वन-सा, वन-सा अपने में बंद हूं
शब्द में मेरी समाई नहीं होगी
मैं सन्नाटे का छंद हूं।

•

वसीयत

मेरी छाती पर
हवाएं लिख जाती हैं
महीन रेखाओं में
अपनी वसीयत
और फिर हवाओं के झोंके ही
वसीयतनामा उड़ाकर
कहीं और ले जाते हैं।

बहकी हवाओ! वसीयत करने से पहले
हलफ उठाना पड़ता है
कि वसीयत करने वाले के
होश-हवास दुरुस्त हैं :
और तुम्हें इसके लिए
गवाह कौन मिलेगा
मेरे ही सिवा ?

क्या मेरी गवाही
तुम्हारी वसीयत से ज्यादा टिकाऊ होगी ?

❖

शीलन

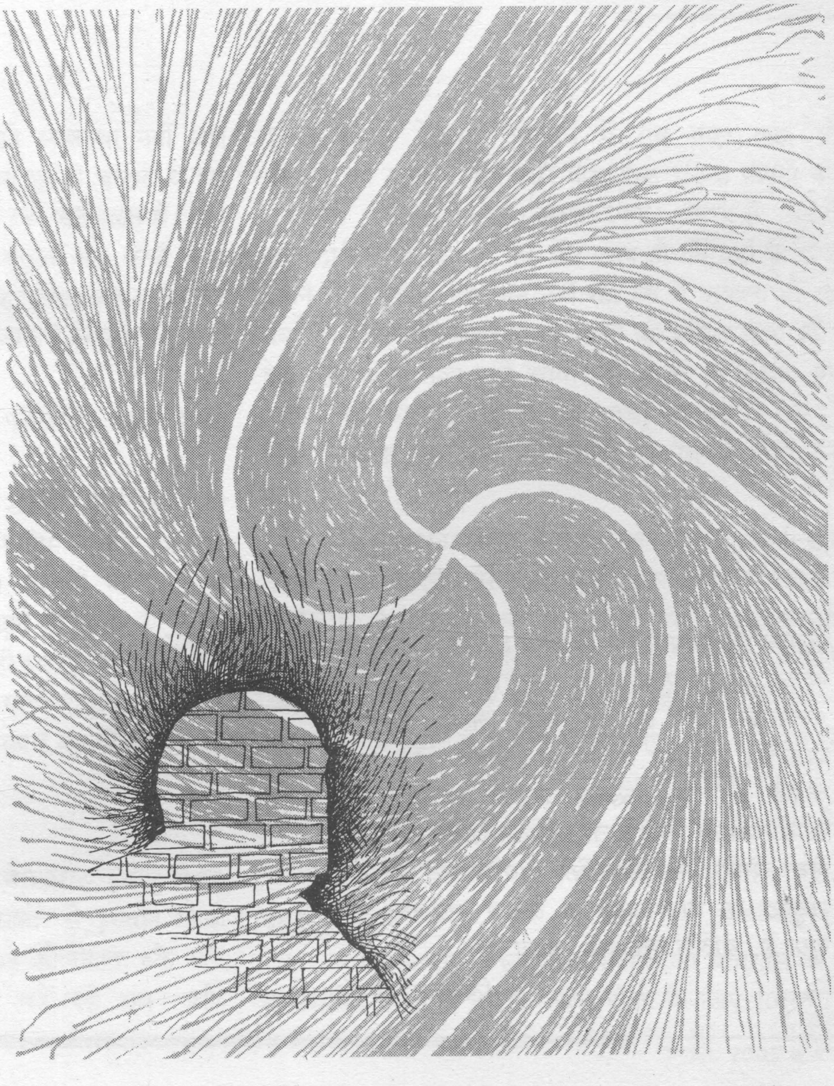

मनुष्य ही परंपरा का निर्माण करता है और वह गलत भी हो सकती है; किंतु बुद्धि निश्चय ही परमात्मा की देन है और गलत नहीं हो सकती। इसलिए सत्य को जानने और प्रकट करने के लिए खास महान योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, हमको केवल यह मान लेना चाहिए कि सत्य को प्राप्त करने के लिए, मनुष्य के पास बुद्धि न केवल सर्वश्रेष्ठ दैवी गुण है, बल्कि एकमात्र अस्त्र है।

—लियो टालस्टॉय

मुनि नथमल के अध्यापन का दायित्व मुनि तुलसी को सौंपा गया। यह एक दुर्लभ योग था और मणिकांचन योग भी। कुशल शिक्षक-प्रशिक्षक मुनि तुलसी के अनुशासन में अध्ययन का क्रम शुरू हुआ। वे केवल अध्यापक ही नहीं थे, मुनि नथमल के सर्वांगीण व्यक्तित्व निर्माण के घटक भी सिद्ध हुए। सहज समर्पण और विनम्रता से अपने शिक्षक मुनि तुलसी से जो-कुछ पाना था वह सब-कुछ पा लिया। गुरु का अपार वात्सल्य और शिष्य का सर्वांगीण समर्पण—दोनों का योग शिखर की ऊंचाइयों का स्पर्श कर रहा था। इसी का परिणाम हुआ कि मुनि तुलसी के दिल को मुनि नथमल ने जीत लिया।

अप्रतिम प्रतिभा की कीर्ति-कथा

❑ साध्वी अशोकश्री

वहां पर सरकारी स्कूल की व्यवस्था नहीं थी। पाठशाला थी। अकेले एक गुरुजी चलाते थे इस पाठशाला को। मात्र वर्णमाला सीखी इस पाठशाला में। हां! आंतरिक प्रज्ञा जन्म के समय ही जाग्रत थी। कभी कहा था—मैं कहां जन्मा, यह मैं जानता हूं। पिताश्री कब दिवंगत हो गए, यह भी मैं जानता हूं। कैसे जाना? मैं इसे बता नहीं सकता।

अतींद्रिय प्रज्ञा के जागरण को परिलक्षित करती है यह बात।

यह बात है एक छोटे-से गांव टमकोर की। इसी गांव के चौरड़िया कुल में अवतरित एक अप्रतिम ज्योति पुंज की। मां बालु की कुक्षि से जन्मे इस बालक के पिता थे तोलारामजी। पिता का सुखद साया बहुत जल्दी ही उठ गया और मां के निश्छल प्यार में ही इस लाडले का लालन-पालन हुआ। मां ने ही निभाया मातृत्व और पितृत्व का दायित्य। सम्यक् संस्कारों का बीजारोपण मां के ही कुशल हाथों से हुआ।

पचहत्तर पार संयम पर्याय

पहुंच गए मंजिल तक चरण

चचेरी बहिन की शादी थी मेमनसिंह (बंगलादेश) नगर में। शादी में जाने के लिए टमकोर से प्रस्थान किया अपने चाचा के साथ। सामान खरीदने कोलकाता रुके और चाचाजी के साथ बाजार गए तो बड़े-बड़े भवन और दुकानें-बाजार देखकर आश्चर्य में डूब गए। कहां तो मरुभूमि का टमकोर गांव और कहां ईस्ट इंडिया कंपनी की राजधानी कोलकाता की चमक-दमक। चाचाजी अपनी खरीददारी में तल्लीन हो गए और आप हो गए वहां के दृश्य देखने में तल्लीन। यह भान नहीं रहा कि मैं अकेला ही रह गया हूं। खरीददारी करते-करते चाचा को स्मरण हुआ और देखा तो 'नत्थू' नजर नहीं आया। पूरे बाजार में खोजा, पर 'नत्थू' नहीं मिले। चिंता में डूबे चाचा घर पहुंचे। 'नत्थू' निपट अकेला, न 'बाड़ी' (निवास) के नंबर न मार्ग का पता।

नत्थू ने अपना साहस बटोरा। गले में पहना स्वर्ण-सूत्र उतारा, घड़ी खोली और दोनों वस्तुएं अपनी जेब में डालीं। अनजाने पथ पर चल पड़ा नत्थू। चलते-चलते मकान पर पहुंच गया। अपने बेटे को अकेले आते देखकर माता स्तब्ध रह गई। बोली—'स्वामीजी के प्रताप से तू यहां पहुंच गया।' अनजाने पथ से मंजिल तक पहुंचना अतींद्रिय-प्रज्ञा का ही सूचक है।

इसी अंतःप्रज्ञा ने नत्थू के व्यक्तित्व-विकास के अनेक पृष्ठ खोले। कुछेक पृष्ठ हम यहां खोलते हैं।

दीक्षा संस्कार

टमकोर में मुनिश्री छबीलजी स्वामी का चातुर्मास था। मुनिश्री की प्रेरणा से बालक नत्थू दीक्षा के लिए समुत्सुक

हुआ। मुनिश्री से तत्त्व-ज्ञान सीखता। परिवार ने भी परीक्षा ली और नत्थू शत-प्रतिशत अंक से उत्तीर्ण हो गया। आचार्यश्री कालूगणी के दक्ष करकमलों से दीक्षा संस्कार संपन्न हुआ। एक सरल और निश्छल बालक साधु बन गया। न व्यवस्थित तौर पर कपड़े पहनना आता और न चलना ही। स्वयं आचार्यश्री कालूगणी ने प्रतिबोध दिया। अखंड समर्पण और विनम्रता से परिपूरित मुनि नथमल (नत्थू से नथमल) साधुत्व की सभी कसौटियों में खरे उतरते चले गए।

दुर्लभ संकल्प, योग और निष्ठा

मुनि नथमल के अध्यापन का दायित्व मुनि तुलसी को सौंपा गया। यह एक दुर्लभ योग था और मणिकांचन योग भी। कुशल शिक्षक-प्रशिक्षक मुनि तुलसी के अनुशासन में अध्ययन का क्रम शुरू हुआ। वे केवल अध्यापक ही नहीं थे, मुनि नथमल के सर्वांगीण व्यक्तित्व निर्माण के घटक भी सिद्ध हुए। सहज समर्पण और विनम्रता से अपने शिक्षक मुनि तुलसी से जो-कुछ पाना था वह सब-कुछ पा लिया। गुरु का अपार वात्सल्य और शिष्य का सर्वांगीण समर्पण—दोनों का योग शिखर की ऊंचाइयों का स्पर्श कर रहा था। इसी का परिणाम हुआ कि मुनि तुलसी के दिल को मुनि नथमल ने जीत लिया।

अपने अंतरंग व्यक्तित्व को सक्षम और सबल बनाने के लिए मुनि नथमल कुछ संकल्पों से संकल्पित हुए। ये संकल्प हैं—

1. मैं ऐसा कोई भी काम नहीं करूंगा, जो मेरे गुरु को अप्रिय लगे।

2. मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा कि जिससे मेरे गुरु को यह सोचना पड़े कि जिस व्यक्ति को मैंने तैयार किया, वह मेरी धारणा के अनुरूप नहीं निकला।

3. मैं किसी का अनिष्ट नहीं करूंगा।

अंतरंग साधना के साथ अध्ययन क्षेत्र में भी मुनि नथमल वज्रसंकल्पी सिद्ध हुए। जिस विषय में शिक्षण प्रारंभ किया, उसमें जब तक परिपूर्णता न आ जाती तब तक उसे नहीं छोड़ते। संकल्प-चेतना का ही परिणाम रहा कि प्रत्येक क्षेत्र में प्रज्ञा-प्रकर्ष की ऊंचाइयां मापने लगे।

वक्तृत्व कौशल

हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत और राजस्थानी—चतुष्टय भाषा पर मुनि नथमल का पूरा अधिकार स्थापित हो गया। वक्तृत्व कौशल भी विलक्षण। आपके प्रवचन इतने प्रभावशाली कि जो शब्दों की परिधि से पार साधारण जन के मन को छू लेने वाले, तो दूसरी ओर शीर्षस्थ विद्वद् वर्ग भी आपके प्रवचनों से आकृष्ट होने लगा।

एक घटना लुधियाना की। 'प्रेक्षाध्यान' का एक शिविर आपके सान्निध्य में समायोजित था। आपके वक्तव्य को सुनकर एक प्रोफेसर ने कहा—'आज मुझे एक नया सत्य मिला है। चित्त और मन की जो मौलिक व्याख्या आपने दी, वह शायद कोई दूसरा चिकित्सक या वैज्ञानिक नहीं दे सकता। आपने चित्त को चेतना और मन को जड़ (पौद्गलिक) बताया। मेरे मन की उलझी गुत्थी को आपने सुलझा दिया।' यह एक उदाहरण है, ऐसे अनेक लोग आपके प्रवचन से प्रभावित होते हैं।

चिरपालित कामना

आचार्यश्री तुलसी का सन् 1954 का मुंबई में चातुर्मास। वहां पेनसिल्वानिया विश्वविद्यालय के डॉ. नार्मन ब्राउन दर्शन करने आए और बोले—आचार्यजी! मेरी एक चिर अभिलाषा है कि महावीर की मूलभाषा यानी प्राकृत भाषा में कोई वक्तव्य दें। मैंने कई जैनाचार्यों एवं मुनिजनों के पास यह भावना रखी, पर पूरी नहीं हो पाई। आज आप यदि पूरी कर दें तो मैं धन्य हो जाऊंगा।

आचार्यश्री तुलसी ने स्याद्वाद विषय पर मुनि नथमल को प्राकृत भाषा में बोलने का संकेत दिया। सारगर्भित अजस्र धारा फूट पड़ी हो जैसे, धाराप्रवाह बीस मिनिट का प्रवचन मुनि नथमल ने तब दिया। सुनकर डॉ. नार्मन ब्राउन भाव-विभोर हो उठे। उन्होंने कहा—मेरी भारत यात्रा सफल हो गई। प्राकृत भाषा पर कितना अधिकार है—यह इस प्रवचन से स्वयंसिद्ध है। मेरी चिर-पालित इच्छा आज पूर्ण हो चुकी।

रचूंगा इसी छंद में

संस्कृत भाषा में वक्तव्य देना बहुत बड़ी उपलब्धि है, पर आशुकविता करना अधिक बड़ी उपलब्धि है। 27 फरवरी 1955, वागर्द्धिनी सभा, पूना में डॉ. के. एन. वारवे ने संस्कृत में आशुकविता करने के लिए कहा—

समय ज्ञापकं यंत्रं नव्यानां हस्त भूषणम्,
स्रुग्धरा वृत्तमालंब्य, घटी यंत्रं वर्ण्यताम्।।

जो सदा समय बताती है और जो नौजवानों के हाथ का आभूषण बनती है, उस घड़ी का स्रुग्धरा छंद में वर्णन

करें। इस प्रदत्त छंद में सामान्य तौर पर रचना करना मुश्किल है। आशुकविता क़रना तो भला और भी अधिक मुश्किल है। आचार्यश्री तुलसी ने मुनि नथमल से कहा—किसी दूसरे छंद में रचना कर लो, पर आपका आत्मविश्वास इतना दृढ़ था कि आपने तत्काल कहा—मैं इसी छंद में रचना कर सकता हूं। प्रस्तुत विषय पर एक श्लोक के स्थान पर आपने चार श्लोक रच डाले। इस दुरूह छंद में की गई आशुकविता का विद्वद् वर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ा। सभी प्रसन्न और चकित थे और प्रसंशा करने लगे। ऐसे प्रसंग आपके सामने बहुत बार उपस्थित हुए। आपकी प्रखर प्रज्ञा ने सदा सफलता के द्वार पर दस्तक दी। भंडारकर इंस्टीट्यूट, तिलक विद्यापीठ आदि स्थानों पर विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किए गए और आपकी अप्रतिम प्रतिभा ने सर्वत्र चार चांद लगाए।

मनीषी साहित्यस्रष्टा

वक्तृत्व कला का अपना प्रभाव होता है, पर वह श्रवण तक ही सीमित है। चेतना के भीतरी स्तर तक पहुंचने में साहित्य का प्रभाव अप्रतिम है। साहित्य वह प्रकाश है जो समूचे जीवन को आलोकित कर देता है। वही साहित्य श्रेष्ठ व सर्वग्राह्य माना जाता है, जो जन-जन का अंतस्तल छू ले। मुनि नथमल से लेकर प्रज्ञापुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तक के इस अविराम कालखंड में जो साहित्य इस मनीषा ने रचा वह युगीन समस्याओं के समाधान में उभयमुखी चिंतनधारा की तरह प्रवाहित है। अध्यात्म और वैज्ञानिक—दोनों ही दृष्टियों का समन्वय इसमें मुखर है। अध्यात्म-शून्य विज्ञान जहां खतरे से खाली नहीं है, वहीं विज्ञान-शून्य अध्यात्म भी आम-जीवनोपयोगी नहीं है। दोनों का समन्वय ही समुचित रूप से कारगर है, उपयोगी है। आपका साहित्य इन शिखरी ऊंचाइयों का स्पर्श कर रहा है।

आगम संपादन

आगम संपादन सर्वोत्कृष्ट और स्वर्णिम उपक्रम है। शताब्दियों तक जो काम नहीं हुआ, वह आपकी प्रखर प्रज्ञा में शुरू हुआ और तब से संपन्न हो रहा है। मात्र जैन समाज ही नहीं, बल्कि समूचा प्रबुद्ध वर्ग इस अवदान के प्रति कृत-कृत्य है।

शिक्षा और जीवन-विज्ञान

शिक्षा के क्षेत्र में जीवन-विज्ञान की उपयोगिता अब स्थापित हो चुकी है। विद्यार्थी वर्ग के लिए शिक्षा का जो निर्धारित पाठ्यक्रम है, उसमें जीवन-विज्ञान व्यक्तित्व निर्माण के लिए सक्षम मेरु-दंड के सन्नद्ध बनता जा रहा है। शिक्षाविदों ने भी इसकी मौलिकता और आवश्यकता को समझा है। कई प्रदेशों में अब स्कूल-कॉलेज पाठ्यक्रम में जीवन-विज्ञान को अनिवार्य कर दिया गया है।

प्रेक्षाध्यान : तनावमुक्ति

वर्तमान युग में हर मानव तनावग्रस्त जीवन जी रहा है। इससे छुटकारा पाने के लिए वह नशीले पदार्थों की शरण में जाता है, पर वह समाधान कितना हानिप्रद है, यह सभी जानते हैं। यह भी सब जानते हैं कि इससे मात्र चार-पांच घंटे के लिए राहत मिलती है, पर इसके दुष्प्रभाव स्थाई घर कर लेते हैं। प्रेक्षाध्यान के वैज्ञानिक प्रयोगों का अनुशीलन करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि इसके निरंतर प्रयोग व अभ्यास से आदमी विकट परिस्थितियों से मुक्त होकर आनंदमय जीवन जी सकता है। आज इसकी विश्वव्यापी प्रतिष्ठा बन चुकी है। विदेशों में भी जगह-जगह इसके केंद्र खुले हुए हैं। कई विदेशी जन तो आपकी सन्निधि में पहुंच कर इसका प्रशिक्षण भी ले चुके हैं। आज विश्व को ये जो अनमोल विधाएं मिली हैं, वे आचार्यवर की निर्मल एवं प्रखर प्रज्ञा की लौ से ही प्रकट हुई हैं।

पद स्वयं गौरवान्वित

विराट व्यक्तित्व एवं कुशल कर्तृत्व से गरिमामय उपाधियां भी आपके नाम से जुड़कर गौरवान्वित हुई हैं। आचार्यश्री तुलसी ने आपकी विशिष्ट क्षमताओं का मूल्यांकन करते हुए सन् 1986 में निकाय सचिव पद से अलंकृत किया। गंगाशहर में महाप्रज्ञ संबोधन से अलंकृत हुए। राजलदेसर में युवाचार्य पद पर आप अभिषिक्त हुए और सुजानगढ़ में आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। आपने अनेक पदों को ठुकराया है और हर पद आपको पाकर गौरवान्वित हुआ है। अहिंसा यात्रा भी आपकी कीर्ति का एक अंग बन गौरवान्वित है। ❖

मनुष्य पुरातन परंपरा-प्रिय है, अनुकरणशील है। किंतु यदि वह नया पग उठाए तो अपने अंतर से ही नया सूर्य पैदा कर सकता है। अनुगामी न बनकर अग्रणी बनने की क्षमता रखता है।

—**ऋग्वेद** 9.23.2

नैतिक, चारित्रिक उत्थान के लिए की जाने वाली सेवा मानव जाति की सेवा है। दूसरी ओर अपने यश, नाम और प्रतिष्ठा के लिए सेवा की जाती है। जब-जब ऐसी भूख प्रधान हो जाती है तो व्यक्ति कोई भी कार्य करेगा तब यह देखेगा कि इसमें मेरा नाम आया या नहीं। ठीक इसके विपरीत—नाम-प्रतिष्ठा आदि से दूर रहकर केवल अपनी निर्जरा के लिए सेवा की जाती है।

आगम मनीषियों ने कहा—❑ सेवा महानिर्जरा, महापर्यवसान का हेतु है। इसीलिए सेवा की जानी चाहिए। ❑ चित्त-समाधि पैदा करने के लिए सेवा करें। ❑ विचिकित्सा (ग्लानि) का निवारण करने के लिए सेवा करें। ग्लान व्यक्ति की अग्लानभाव से सेवा करने वाला अपनी ग्लानि पर विजय प्राप्त कर लेता है और यह उसके उच्च गोत्र निबंधन का हेतु भी बनता है।

परार्थ व्याप्रतिवैयावृत्यं

❑ साध्वी श्रुतयशा

व्यक्ति समाज में जीता है। समाज ही सभ्यता और संस्कृति की जन्मभूमि है। सभ्य और सुसंस्कृत समाज के हम सब सदस्य हैं। समाज के विकास का ढांचा सेवा, श्रम और सहयोग के स्तंभों पर ही खड़ा हो सकता है। यह जगत् बहुत-सी जातियों-प्रजातियों के जैव मंडल से निर्मित है, पर उनमें 'समाज' जैसा कोई आधार नहीं है। बहुत-सारी मछलियां पानी में एक साथ रहती हैं, पर वहां 'मच्छगलागल न्याय' चलता है। छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है। जंगली जानवरों का झुंड तो हो सकता है, समाज नहीं। वहां भी जंगल का कानून चलता है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो केवल अपने लिए नहीं जीता, औरों के लिए भी जीता है। उसकी चेतना में दूसरों के लिए स्थान है, उनके बारे में भी सोचने-विचारने का अवकाश है। इसीलिए मनुष्य की अपनी भाषा, व्यक्तित्व, सभ्यता, संस्कृति के विकास की संभावना हर समय बनी रहती है। समाज का निर्माण अपनी गति से स्वतः हो जाता है।

मर्यादा महोत्सव विशेष

जैन दर्शन में तप के बारह प्रकार बताए गए हैं। उनमें नवां भेद है—वैयावृत्य। वैयावृत्य के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए आगम व्याख्या-साहित्य में कहा गया है कि संयमी साधक को अन्न, पानी आदि देकर उसकी संयम-साधना में सहयोग देना और शुद्ध आहार, औषध, उपधि आदि लाकर देना तथा अन्य कार्यों में व्यावृत होना—वैयावृत्य है, सेवा है। जैन सिद्धांत दीपिका के अनुसार—परार्थ व्याप्रतिवैयावृत्यं—दूसरों के संयम में सहायक बनने हेतु अपनी शक्ति का उपयोग करना सेवा है। परार्थ व्यावृत होने का अर्थ है—जो सेव्य है, उसके लिए अपने श्रम का नियोजन करना।

आचार्य अकलंक के अनुसार कोई भी आचार्य परीषह मिथ्यात्व और रोग आदि से उपद्रव-ग्रस्त हो जाए तो उस समय प्रासुक औषधि, भक्तपान, प्रतिश्रय, पीठ-फलक, संस्तरण आदि धर्मोपकरणों के द्वारा व्याधि, परीषह आदि का निवारण करना, मिथ्यात्वादि चंगुल से मुक्त कर, उपद्रव से मुक्त कर सम्यक्त्व में पुनः स्थापित करना सेवा है।

सेवा साधार्मिक वात्सल्य का मुखर रूप है। इसके प्रकारों की मीमांसा अनेक दृष्टियों से की जा सकती है। सेव्य की अपेक्षा से सेवा के दो प्रकार हैं—(1) **लौकिक की सेवा**—माता-पिता आदि की सेवा करना। (2) **लोकोत्तर सेवा**—देव-गुरु-धर्म की सेवा करना। अपर विवक्षा से सेवा

के फ़िर दो प्रकार हो सकते हैं—(1) **स्वार्थप्रधान सेवा**—एक सहायक जब अपने अधिकारी की सेवा करता है तो उसके पीछे स्वार्थ-चेतना की प्रधानता है। (2) **निःस्वार्थ सेवा**—लोकोत्तर सेवा निःस्वार्थ सेवा है। एक अन्य विवक्षा में सेवा के दो प्रकार हो सकते हैं—

(1) **संबंध चेतना से प्रेरित सेवा**—मेरेपन से जुड़कर की जाने वाली सेवा। (2) **बिना किसी लगाव के की जाने वाली सेवा**—गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी ने इस सेवा के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा—सेवा से महानिर्जरा, महापर्यवसान होता है। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा गया—

ज्ञान प्रेक्षाध्यान से विज्ञान से अवधान से,
कलाकृति संगान से अतिगहन अनुसंधान से।
मौन तप श्रम दान से संयोजना अभियान से
मैं कहूं सर्वोच्च सेवाभाव संघ-विधान से।।

नैतिक, चारित्रिक उत्थान के लिए की जाने वाली सेवा मानव जाति की सेवा है। दूसरी ओर अपने यश, नाम और प्रतिष्ठा के लिए सेवा की जाती है। जब-जब ऐसी भूख प्रधान हो जाती है तो व्यक्ति कोई भी कार्य करेगा तब यह देखेगा कि इसमें मेरा नाम आया या नहीं। ठीक इसके विपरीत—नाम-प्रतिष्ठा आदि से दूर रहकर केवल अपनी निर्जरा के लिए सेवा की जाती है। व्यवहारभाष्य में सेवा के तीन प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है—

अनुशिष्टि—अनुशासन देना। गुरु अनुशासन प्रदान कर शिष्यों की सेवा करते हैं। प्रशंसा भी इसी में निहित है।

उपालंभ—गुरु उपालंभ के माध्यम से भी शिष्य की सेवा करते हैं। उसे श्रेय की दिशा में नियोजित होने का पथदर्शन देते हैं। इतिहास बताता है कि महावीर के काल में साध्वीप्रमुखा चंदनबाला की ओर से साध्वी मृगावती को दिया गया उपालंभ उनके कैवल्य का निमित्त बन गया। यह सानुशय उपदेश-प्रदान है।

अनुग्रह—जिसे व्यवहार में सेवा के रूप में जाना जाता है, जैसे—भक्तपान आदि लाकर देना, दबाना आदि—द्रव्य अनुग्रह है। प्रतिपृच्छा आदि देना—भाव अनुग्रह है।

व्यवहारभाष्य में उपग्रह के दस प्रकार बताए हैं—

आलावण पडिपुच्छण परियट्टुट्ठाण वंदणाग मत्ते।
पडिलेहण संघाडग भत्तदाण संभुजणा चेव

1. वार्तालाप, 2. सूत्रप्रतिपृच्छा, 3. सूत्र परिवर्तना (चितारना), 4. काल वेला में उठना, 5. वंदना, 6. उच्चारप्रसवण खेलमात्रक का आदान-प्रदान, 7. प्रतिलेखना, 8. भिक्षादि के लिए साथ आना-जाना, 9. भोजन-पानी लाकर देना, 10. सहभोजन। इनमें से दूसरा, तीसरा और पांचवां प्रकार भाव-सहायता सेवा है। शेष द्रव्य-सहयोग सेवा है।

सेवा के अन्य प्रकारों में भावतः की जाने वाली व बलात् की जाने वाली सेवा को भी लिया जा सकता है। भावतः सेवा करके व्यक्ति हलकेपन व प्रसन्नता का अनुभव करता है। जबकि थोपी हुई या जबरदस्ती से की जाने वाली सेवा में स्वयं व्यक्ति भी खिन्नता का अनुभव करता है। वह चित्त-समाधि नहीं दे-ले सकता।

सामाजिक कर्तव्य की पृष्ठभूमि से भी सेवा फलित होती है। हम इसे सावद्य सेवा और निरवद्य सेवा के भेद से समझ सकते हैं।

घायल सैनिक की सेवा करता हुआ व्यक्ति अपने सामाजिक कर्तव्य का निर्वहन करता है। गांधीजी ने ऐसी सेवा को युद्ध में प्रोत्साहन का निमित्त मान कर इसे सावद्य कहा है। शस्त्र की तीक्ष्णता जीववध का निमित्त बन सकती है। इसी प्रकार अव्रती की सेवा जीववध का निमित्त बनने के कारण वह सावद्य है। लौकिक व्यवहार से जुड़े इस तरह के सभी सहयोग निरवद्य नहीं हो सकते।

भगवान ऋषभ ने सामाजिक अवस्था में विविध व्यवस्थाओं का सम्पादन किया। उन व्यवस्थाओं में सावद्य प्रवृत्ति भी निहित थी। लोकानुकंपा से प्रेरित होकर ही उन्होंने ऐसे सारे कार्य किए। त्रिशष्टिशलाका पुरुष में कहा गया—

एतच्च सर्व सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास जानन् कर्तव्यमात्मनः

कर्तव्य की प्रेरणा ही इस सेवा का आधार बनी।

सेवा क्यों की जाए—

इस प्रश्न को समाहित करते हुए आगम मनीषियों ने कहा—❑ सेवा महानिर्जरा, महापर्यवसान का हेतु है। इसीलिए सेवा की जानी चाहिए। ❑ चित्त-समाधि पैदा करने के लिए सेवा करें। ❑ विचिकित्सा (ग्लानि) का निवारण करने के लिए सेवा करें। ग्लान व्यक्ति की अग्लानभाव से सेवा करने वाला अपनी ग्लानि पर विजय प्राप्त कर लेता है और यह उसके उच्च गोत्र निबंधन का हेतु भी बनता है। ❑ प्रवचन वात्सल्य प्रकट करना—संघ में सेवा की व्यवस्था देख दूसरे लोग भी दीक्षा को प्रेरित होते हैं। इस प्रकार सेवा से प्रवचन वात्सल्य प्रकट होता है। ❑ स्थिरीकरण—शैक्ष,

वृद्ध, ग्लान आदि की सेवा करना उनके स्थिरीकरण का हेतु बनता है। ❑ आश्वासन—सेवा का आश्वासन व्यक्ति को आपातकालीन दुश्चिंताओं से मुक्त रखता है। व्यक्ति को असहायता, निराधारता की अनुभूति नहीं होने देता। ❑ संघीय व्यवस्थाओं का दृढ़ीकरण—निशीथ व व्यवहार सूत्र में बताया गया है कि कोई साधु विहार करता आ रहा है, मार्गवर्ती ग्राम में कोई ग्लान साधु हो, उससे मिले बिना जाने वाले व उसकी अपेक्षित सेवा को गौण करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। परिहार तप करने वाले की भी सेवा करने का निर्देश है। ❑ लोकापवाद से बचने के लिए सेवा की जानी चाहिए। सेवा न हो तो लोकापवाद होता है। लोकविरुद्ध व्यवहार से बचने के लिए सेवा करें। ❑ दुप्परिच्चओ—लोकोत्तर संबंध दुस्त्याज्य होता है। साधार्मिक संबंध लोकोत्तर संबंध हैं। दुनिया में लौकिक संबंध चलते हैं। माता द्वारा बच्चे की, संतान द्वारा माता-पिता की कैसे-कैसे सेवा की जाती है, इसे सामाजिक परिवेश में अच्छी तरह देखा जा सकता है। उनके सामने निर्जरा जैसा कोई महान लक्ष्य नहीं है। फिर भी वे सेवा करते हैं। साधक का साधक के साथ लोकोत्तर संबंध होता है और यह संबंध दुस्त्याज्य होता है। इसीलिए सेवा करें। ❑ कय पडिकिई—कृत-प्रतिकृति—सेवा का आदान-प्रदान कृत-प्रतिकृति है। मैं सेवा लेता हूं, इसीलिए मुझे सेवा करनी भी चाहिए। सेवा का अवसर आने पर कोई व्यक्ति यदि कह दे—मेरे तो स्वयं के ही ठीक नहीं है, मैं क्या सेवा कर सकता हूं—तो वह दंड का अधिकारी है। ऐसी स्थिति में सेवा में नियोजितकर्ता उससे प्रतिप्रश्न कर सकते हैं—क्या तुम ग्लान के पास बैठ भी नहीं सकते? क्या तुम उसे करवट भी नहीं बदलवा सकते हैं? यदि ऐसा कर सकते हो, तो यह भी सेवा है। तेरापंथ के अष्टमाचार्य कालूगणी के उदाहरण को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। अपने अंतिम समय में उन्होंने कहा—जो मेरे थूकने के लिए रेत भी लाया है, उसने भी मेरी सेवा की है। मिल्टन ने इसी संदर्भ में कहा—जो प्रतीक्षारत खड़े हैं, वे भी सेवा कर रहे हैं—(They also serve who stand & wait.) स्पष्ट है कि सेवा के व्यापक स्वरूप को शब्दों की सीमा में बांधा नहीं जा सकता।

आज्ञा-सेवा

भगवान की आज्ञा है—इसलिए सेवा करें। व्यवहारभाष्य में स्वयं तीर्थंकर द्वारा कहलवाया गया है—जे गिलाणं पडियरइ, मं पडियरइ।

पंचसूत्रम् में कहा गया—

वैयावृत्यं कृतं येन मुनेः रुग्णस्य भावतः।
मम सेवा कृतं तेन ब्रूते तीर्थंकरो महान्।।

अर्थात् तीर्थंकर कहते हैं—जो ग्लान की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है। इन महान लक्ष्यों को सामने रखते हुए व्यक्ति सेवा करे।

सेवा कब करें

विभिन्न प्रकार की तपोविधियों में स्वाध्याय और सेवा को अनुत्तर धर्म माना गया है। संघबद्ध साधना-पद्धति में दोनों का मूल्य बराबर है। इसलिए साधक सूर्योदय के साथ ही गुरुचरणों में प्रणत हो निवेदन करता है—

इच्छा निओइठं भंते। वेयाबच्चे व सज्झाए।

भगवन्! वैयावृत्य अथवा स्वाध्याय—दोनों में से जहां इच्छा हो, नियुक्त करें। दिनचर्या के प्रारम्भ में इस प्रश्न की उपस्थिति इस तथ्य की सूचना देती है कि सेवा और स्वाध्याय मुनिचर्या के सदाकाल करणीय कार्य हैं।

आगमों में **कालो कालं समायरे** के माध्यम से समय-नियोजन का सूत्र दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में मुनि के लिए दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में भिक्षा, चतुर्थ प्रहर में फिर स्वाध्याय का निर्देश है। इसी तरह रात्रि के चारों प्रहरों का कार्य भी निर्धारित किया गया है। वहां सेवा कार्य का अलग से कोई निर्देश नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सेवा कार्य यथा अपेक्षा जब, जहां, जिस रूप में जरूरत हो—सभी कालों में करें। सेवा सर्वकाल करणीय है। सैनिकवत् साहस व अभय के साथ साधक आठों ही कालों में सेवा के लिए तत्पर रहे।

सेवा कैसे करें

सेवा करने के अनेक रूप हो सकते हैं। अनेक उद्देश्य हो सकते हैं। पर, जहां तक साधना का प्रश्न है—वह हमेशा निर्जरा के लक्ष्य से की जानी चाहिए। सेवा कैसे करें अथवा किस भाव से सेवा न करें—इस विषय में कुछ बिंदुओं पर विमर्श किया जा सकता है—1. नो इहलोगट्ठयाए सेवं अहिट्ठेजजा—सेवा के पीछे कोई इहलौकिक स्वार्थ जुड़ा हुआ न हो। जैसे अमुक की सेवा करने से धन, पद या अधिकार मिलेगा। 2. नो परलोगट्ठयाए सेवं अहिट्ठेजजा—स्वर्ग आदि पारलौकिक आकांक्षाओं से प्रेरित होकर सेवा नहीं करनी चाहिए। 3. नो कित्ति वज्जसद्द सिलोट्ठयाए सेवं अहिट्ठेजजा—आसक्ति, यश व नाम की भूख से सेवा न करें। 4. विनिमय के भाव से सेवा न करें। इसने मेरी सेवा

की है, अतः मैं इसकी सेवा करूं, या यह मुझे विद्या देता है, पढ़ाता है, इसलिए मुझे इसकी सेवा करनी है। आचार्यश्री तुलसी ने कहा—'विद्या ग्राह्या नेति बुद्धयैव सेवा।' 5. मैं सेवा कर रहा हूं, इसको अन्य व्यक्ति भी उचित ढंग से समझे। मेरी सेवा का मूल्य आंका जाए—इस प्रकार के मूल्यांकन का मोहताज बनकर सेवा न की जाए। 6. ओढ़ी हुई या थोपी हुई भावना से सेवा न की जाए।

आत्मधर्म अथवा कर्तव्य भाव से जुड़कर सेवा करें। सम्मान व प्रतिष्ठा के व्यामोह से ऊपर उठकर जब सेवा की जाती है, वह हार्दिक सेवा होती है और उसकी सौंधी सुगंध सेवा लेने और देने वाले के मन और प्राणों में पुलकन भर देती है, वातावरण में एक विशिष्ट प्रमोद पैदा करती है।

सेवा किसकी करें

सामान्यतया बाल, वृद्ध एवं रोगी की सेवा की जाती है, पर लोकोत्तर दृष्टि से साधना के लिए समर्पित लोगों की सेवा करणीय है। जैन दर्शन के अनुसार मुख्यतः आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, कुल, गण, संघ व साधार्मिक—इन दस की सेवा महानिर्जरा का हेतु है। तेरापंथ के संदर्भ में कुल आदि तीन का समावेश एक संघ में भी हो सकता है।

सेवार्थी कौन

सेवार्थी के दो वर्ग हो सकते हैं—(क) सामान्य सेवार्थी—हर व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में सेवा कर सकता है। इसीलिए सामान्यतया सभी व्यक्ति सेवा करने की अर्हता रखते हैं। (ख) विशिष्ट सेवार्थी—किसी विशेष अर्हता का अंकन करते हुए, जब किसी को विशिष्ट सेवा कार्य में नियुक्त किया जाता है तो वह विशिष्ट सेवार्थी की श्रेणी में आ जाता है। विशिष्ट सेवा में नियोजन के लिए कुछ विशेष अर्हताओं का विवेचन हमें निशीथ भाष्य में मिलता है। ये विशिष्ट अर्हताएं निम्नानुसार हैं—

1. **खंतिखमं**—जो क्षमाशील हो, क्रोध का निग्रह करने वाला हो। 2. **मद्धवियं**—जो मृदु हो, मान का निग्रह करने वाला हो। 3. **असढम्**—जो ऋजु हो, सरल हो, माया का निग्रह करने वाला हो। 4. **अलोलं**—जो अचंचल हो। लोभ का निग्रह करने वाला हो। 5. **लद्धिसंपन्नं**—जो लब्धिसंपन्न हो, ताकि पथ्य आदि की प्राप्ति से उचित सेवा कर सके। 6. **दक्खं**—जो दक्ष हो, कुशल हो। चुस्त-दुरुस्त व फुर्तीला हो। 7. **सुभरं**—जिसका पेट जल्दी भर जाए। अंत-प्रांत खाद्य से भी जो अपना काम चला सके। 8. **असुविरं**—जो ज्यादा निद्रालु न हो। 9. **हिययग्गाही**—हृदयग्राही हो, जो ग्लान के मनोज्ञ हो। 10. **अपरितंतं**—जो सेवा कार्य में जल्दी थकने वाला न हो। 11. **सुत्तत्थंअपडिबद्धं**—जो सूत्रार्थ से प्रतिबद्ध न हो। प्राचीन काल में कुछ ध्रुवयोगी साधक होते, उनको निश्चित स्वाध्याय करना ही होता। ऐसे लोग समय पर सेवा करने में पीछे रह सकते हैं। 12. **निज्जरपेहिं**—जो निर्जरार्थी हो। नाम, यश और प्रतिष्ठा के लिए सेवा करने वाला श्रेष्ठ सेवार्थी नहीं हो सकता। 13. **जिइंदियं**—जो जितेंद्रिय हो। इंद्रियलोलुप व्यक्ति अच्छी सेवा नहीं कर सकता। 14. **दंतं**—जो सुकर, दुष्कर, बड़े और छोटे सभी प्रकार के दायित्वों का समान भाव (अविकारभाव) से निर्वहन कर सके। 15. **कोउहलविप्पमुक्कं**—जो नृत्य, गान, टी.वी., क्रिकेट आदि के कुतूहल से मुक्त हो। 16. **अणाणुकित्तिं**—ऐसी सेवा मैं ही कर सकता हूं; मेरे सिवा भला और कौन ऐसी सेवा कर सकता है—इस प्रकार आत्मश्लाघा करने वाला न हो। 17. **सउच्छाहं**—जो उत्साह-युक्त हो, जिसे आलस्य न हो। 18. **आगाढमणागाढे**—जो आगाढ और अनागाढ विधियों का ज्ञाता हो। 19-20. **सद्दहग निवेसगंच संट्ठाणे**—जो उत्सर्ग और अपवाद विधियों के प्रति श्रद्धावान और उनका निवेशक—प्रयोक्ता हो।

इस तरह के व्यक्ति को विशिष्ट सेवा कार्य में नियुक्त करें।

तेरापंथ धर्मसंघ में सेवा

आचार्य भिक्षु ने सेवा की व्यवस्था के संदर्भ में कुछ निर्देश दिए हैं। कोई भी साधक जब तक संयम में रहना चाहे, आस्थावान हो, तब तक कोई भी रोगादि स्थिति आ जाने पर उसकी सेवा करें। स्थितियां किन रूपों में हो सकती हैं—उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—

1. रोगी, कमजोर नेत्र-ज्योति, नेत्रहीन, वृद्धावस्था के कारण अशक्त की अग्लान भाव से सेवा करें। जैसे नेत्र-ज्योति मंद है या अचक्षु है तो उसके आगे-आगे पूंजते हुए चलें। पैरों की अशक्यता हो जाने पर सेवार्थी साधु उन्हें कंधे पर उठाकर चलें—ऐसे प्रसंग भी हुए हैं। 2. संलेखना के लिए बाध्य नहीं किया जाए, वैराग्य भावना निरंतर प्रवर्धमान रहे—ऐसा प्रयास किया जाए। 3. स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरे की मदद करें। 4. उनका बोझ स्वयं उठाएं, ताकि उन्हें मानसिक संतुष्टि मिले। साधुपन पले तब तक उन्हें छेह न दें। 5. स्वेच्छा से संलेखना-संथारा करें तो सच्चे हृदय

से सेवा करें, ताकि दूसरों को प्रेरणा मिले। सेवा प्रसंग में यदि कोई कर्तव्य से विमुख दिखाई दे तो उसे प्रेम व तरकीब से समझाया भी जाना चाहिए कि समय पड़ने पर उसे भी ऐसी सेवा से वंचित रहना पड़ेगा। 6. सेवा का दायित्व सौंपे तो अग्लान भाव से प्रसन्नतापूर्वक सेवा करें, सेवाकार्य से मुंह न मोड़ें।

इस तरह सेवा की व्यवस्था व संस्कार होने से किसी को असहाय होने का भय नहीं होगा। संघ में पूरी तरह से निश्चिंतता का भाव रहेगा। सेवा की अपेक्षा होने पर सहवासी एवं स्वयं आचार्य ध्यान देंगे।

जयाचार्यजी ने सभी के लिए सेवा करने की अनिवार्यता कर दी। संवत् 1914 में लाडनूं सेवा केंद्र की स्थापना हुई। तब से अब तक व्यवस्थित सेवा का क्रम चल रहा है। सेवा केंद्र चर व स्थिर—दो रूपों में होते हैं। उस समय एक वर्ष चर सेवा केंद्र में व एक वर्ष स्थिर सेवा केंद्र में सेवा की अनिवार्यता थी। अब इसे दो वर्ष से बदल कर तीन वर्ष और चर या स्थिर किसी भी सेवा केंद्र में सेवा करने की व्यवस्था में परिणत कर दिया गया है।

पहले अग्रणी को प्रतिवर्ष 9 हजार पद्य लिखकर देने होते थे। लेखन कार्य की अक्षमता या अनपेक्षा की अवस्था में उसे सेवा में बदला जा सकेगा—ऐसी व्यवस्था भी जयाचार्यजी ने की।

सेवार्थी को आचार्यों द्वारा अभी भी बराबर प्रोत्साहन दिया जाता है। प्रोत्साहन के रूप में उपवास आदि की छूट या इसी तरह के अन्य उपक्रम प्रयोग में लाए जाते हैं।

तेरापंथ संघ में अनेक महान सेवार्थी हुए हैं। एक-दो उदाहरण हमारे सामने हैं—साध्वी अणचांजी ब्यावर से लाडनूं तक एक साध्वी को अपने कंधे पर बिठा कर लाईं। समण श्रेणी द्वारा भी काफी सेवा-कार्य संघीय दृष्टि से किया जा रहा है। श्रावक-श्राविकाओं से सेवा करवाने का तात्पर्य है कि उन्हें चारित्र की दृष्टि से प्रेरित करना। क्षेत्रीय संभाल भी लोगों की सेवा है, शासन की सेवा है।

सेवा और श्रम विषयक मानसिक दुर्बलता

सेवा जितनी आवश्यक हो, उतनी ही लें। बीमारी या कमजोरी का बहाना करके कोई श्रम से जी न चुरा सके, सुविधावादी न बन सके, स्वाद लोलुपता न बढ़े—स्वामीजी ने इसके लिए भी मर्यादा बनाई है। वि.सं. 1852 के लिखत में उन्होंने लिखा—विशेष कारणवश—(1) गोचरी न जा सके, तो बाद में उससे दुगुने दिन गोचरी जाना। (2) दूसरे से अपना बोझ उठवाए, तो उससे दुगुने दिन बाद में बोझ उठाए। (3) सरस आहार ले, तो उसके बदले बाद में उतने ही दिन सरस आहार का वर्जन करे। (4) पांच लौंग, सौंठ, अजवाइन के लिए एक दिन और देशी चीनी, मिश्री, गुड़, दूध, दही, पीपलामूल जैसी दवाओं के लिए भी दुगुने दिन घी विगय का वर्जन करे। (5) काजल व आंख में दवा-प्रयोग के बदले घी विगय का वर्जन करे। (6) पंचमी समिति जाने का दिन में तीन बार काम पड़े तो एकासन में लूखा आहार करे। रात को तीन बार काम पड़े तो दो दिन लूखा आहार करे। (7) गोंद की रई पीए तो 15 दिन विगय वर्जन करे।

सेवा-सहयोग लेते समय ध्यान

सेवा-सहयोग लेते समय कतिपय महत्त्वपूर्ण संकेत भी दिए गए हैं। ये इस प्रकार हैं—1. माधुकरी वृत्ति—भिक्षाचर्या के संदर्भ में मुनि के लिए निर्दिष्ट सूत्र है—नं य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं—जिस तरह भ्रमर पुष्पों को क्लांत नहीं करता और अपने आपको भी तृप्त कर लेता है, मुनि भी ऐसे ही भिक्षा करे। यह सूत्र केवल भिक्षाविधि तक ही सिमट नहीं जाता है। जीवन के हर पहलू में यह सूत्र विचारणीय है। सेवा ग्रहण करने वाला साधक भी विचार करे कि मैं सेवा ले रहा हूं, इससे सामने वाला क्लांत तो नहीं हो रहा है? इसी संदर्भ में नाणापिंडरया, दंता, अणिस्सिया—आदि शब्द भी विमर्शनीय हैं—अर्थात् वह सहज भाव से प्राप्त होने वाली सेवा में संतुष्ट, संयत इंद्रिय वाला एवं सेवा के विषय में एक सीमा तक अप्रतिबद्ध रहें। 2. सेवा लेते समय सेवार्थी की शारीरिक-मानसिक अपेक्षाओं को ध्यान में रखें। उसके अन्य कर्तव्य भी हैं। उनको अनदेखा करने से उसके सामंजस्य में कमी आ सकती है।

इस संदर्भ में मंत्री मुनि श्री मगनलालजी की जागरूकता आदर्श है। सेवार्थी संत पानी पिलाने में विलंब भी कर देते तो मंत्री मुनि का स्वर यही होता—'तुम्हारे अन्य बहुत काम हैं। कोई बात नहीं।' 3. हार्दिक कृतज्ञ भाव से सेवार्थी की सेवा का मूल्यांकन करें। 4. यदि पास वाले की, बराबर वाले की ज्यादा सेवा हो, तब भी व्यंग्य कसकर, सेवार्थी की पवित्र भावना को ठेस न पहुंचाएं, ईर्ष्या न करें। 5. यदि समय पर काम न हुआ तो ऐसा शब्द या भाव न प्रकट हो कि सेवा करने वाले को अपमान या अपराधबोध की अनुभूति हो। सेवा में रही हुई कमियों को तरीके और मधुरतापूर्वक बताएं। 6. बार-बार कृतज्ञता

शेष पृष्ठ 52 पर

समर्पण का मनोभाव व्यक्तिगत आचार के संदर्भ में पूर्णतया निश्चिंतता व निर्भार का मनोभाव है। गुरु के प्रति आश्वास-विश्वास को अभिव्यक्ति देता यह मनोभाव संघीय आचार को विकास के बहुआयामी क्षितिज प्रदान करने वाला है। विनय और वात्सल्य, समर्पण और विकासमान सोच के आधार पर ही संघ गति, प्रतिष्ठा और साधना के आधार की अभिधा पाता है। आज्ञा, अनुशासन, मर्यादा का स्वीकार यहां स्वभाव बन जाता है। आज्ञा और अनुशासन को जीवन बनाने वाली साध्वी गुलाबांजी को यहां याद किया जा सकता है। वे बाल्य-अवस्था में ही दीक्षित हुई। एक दिन जयाचार्य का निर्देश मिला—'इधर-उधर क्यों घूम रही हो? इधर एक स्थान पर बैठ जाओ।' आज्ञा की अनुपालना हुई। काफी समय बीत गया। आहार के समय ध्यान गया—साध्वी गुलाब कहां है? खोज की गई तो पता चला मंदिर में मूरत के समान निर्दिष्ट स्थान पर स्थिरयोगिनी बनी बैठी है। पूज्यवर ने बैठने का कहा था तो बिना कहे उठूं कैसे? अनुशासन के प्रति अनन्य समर्पण ही निजी जीवन के शुभ संस्कारों की अभिव्यक्ति करता है, आज्ञा के स्वीकार्य से ही संघीय संस्कारों का पल्लवन होता है।

मर्यादा है त्राण : मर्यादा ही प्राण

❑ समणी सत्यप्रज्ञा

विकास हर प्राणी चाहता है। विकास की रफ्तार में कौन कितना सही ढंग से आगे बढ़ पाता है—यह जीवन की व्यवस्था पर निर्भर है। व्यक्ति स्वतंत्रता चाहता है, पर उस स्वतंत्रता को हासिल करने के लिए भी अनेक नियम-कायदों से उसे बंधना होता है। साधु-जीवन अपने-आप में एक मर्यादा है। मुनि पांच महाव्रत का पालन करता है। आत्म-विकास के लिए यह मर्यादा पर्याप्त है। लेकिन साधक एकांत गुफा या जंगल में ही नहीं, समाज में और समूह में जीता है। सामूहिक जीवन की स्वस्थता के लिए व्यवहार-शुद्धि के विकास की भी अपेक्षा है। समूह में शांति एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण में जीने के लिए पांच महाव्रत के अतिरिक्त भी कुछ मर्यादाओं की अपेक्षा है। इस अपेक्षा को तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने समझा और संघीय सुदृढ़ता और सौहार्दपूर्ण वातावरण के लिए—मर्यादाओं का निर्माण किया। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य—जो 'जयाचार्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं—ने उन मर्यादाओं के आधार पर संघीय स्तर पर व्यापक कार्यक्रम प्रदान किए, जो मर्यादा-महोत्सव के नाम से जाने गए। प्रतिवर्ष माघ शुक्ला सप्तमी को मर्यादा-महोत्सव मनाया जाता है। एक गुरु और एक अनुशासन के रूप में पिछले 140 वर्षों से यह कार्यक्रम निर्बाध रूप से और गौरवपूर्ण ढंग से मनाया जा रहा है। तेरापंथ धर्मसंघ के दशम अधिशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य में 141वां मर्यादा महोत्सव लाडनूं में मनाया जाने वाला है। यह मर्यादा महोत्सव तेरापंथ धर्मसंघ के प्राणों को पल-पल उत्सवमय बनाने वाला है।

एक सौ इकतालीसवां मर्यादा महोत्सव

मर्यादाओं का पालनकर्ता मर्यादाओं को जीवित रखता है। 140 वर्षों से चले आ रहे इस महोत्सव को प्राणवान बनाए रखने वाले इन मर्यादाओं का पालन करने वाले ही हैं। मर्यादा को अपने जीवन में सम्मानपूर्ण स्थान देकर उन्हें कायम रखने वाले लोग ही मर्यादा को संस्कार या संस्कृति के रूप में परिणत कर देते हैं। मर्यादाएं तब किसी ग्रंथ-विशेष का अभिलेख मात्र न रहकर जीवन का अंग बन जाती हैं। तेरापंथ धर्मसंघ का मर्यादा महोत्सव इस सचाई का साक्षात् निदर्शन

है। तेरापंथ धर्मसंघ में श्वास लेने वाला हर सदस्य मर्यादाओं का सम्मान करता है, मर्यादाएं उसका सम्मान करती हैं।

'मैं अकेला रहूंगा'—यह व्यावहारिक सचाई नहीं। 'स एकाकी न रेमे'—ब्रह्मा को भी अकेलापन न भाया और इसलिए 'बहुस्यामः' का विचार उनके दिमाग में आया। व्यक्ति समूह में जीता है। साथ में जीना या साथ में मरना व्यक्ति के वश की बात नहीं, लेकिन साथ में रहना और वह भी शांतिपूर्ण ढंग से रहना व्यक्ति के वश की बात हो सकती है, यदि वह जीवन की कला जान जाए। साथ में जीने के अपने कुछ नियम होते हैं। व्यक्ति यदि अकेला है तो उसे किसी व्यवस्था या मर्यादा की अपेक्षा नहीं, किसी के लिए उसका कोई दायित्व नहीं। लेकिन जब वह समूह में जीता है, एक से दो या सौ की दुनिया में प्रवेश करता है, तब अनेक नियम, आचार और मर्यादाएं उसके साथ-साथ आ जानी स्वाभाविक हैं। ये नियम ही सामाजिक स्वस्थता के आधार बनते हैं।

मर्यादा महोत्सव का प्रारंभ आचार से होता है। एक होता है व्यक्ति का अपना आचार और एक होता है व्यक्ति का संघीय आचार। व्यक्ति के स्वस्थ, निजी व संघीय आचार से संघ में अनुशासन पनपता है। अनुशासन से संघ की शक्ति बढ़ती है और एकता मजबूत होती है।

पांच महाव्रत की परिपालना साधु-जीवन का नैसर्गिक नियम है। लेकिन इनकी परिपालना के लिए विशद आधार-भूमि चाहिए। वह आधार-भूमि है—पांच समिति और तीन गुप्ति की साधना। कैसे चलें, कैसे बोलें—आदि प्रवृत्तियों के लिए मन, वचन आदि का संयम अपेक्षित है। प्रवृत्ति के आधार में जब निवृत्ति रहती है, तब प्रवृत्ति स्वतः सम्यक् बन जाती है। तीन गुप्ति की साधना निवृत्ति की साधना है। सम्यक् प्रवृत्ति और गुप्ति के आधार पर जब महाव्रत आसीन होते हैं, तो महाव्रत भी सम्मानित होते हैं, उनका स्वीकर्ता भी सम्मानित होता है। साधना के ये पक्ष जितने पुष्ट होते हैं, व्यक्ति का निजी आचार उन्नत बनता है और वह संघीय आचार को पुष्ट व मजबूत बनाने वाला होता है। मुनि भारीमलजी चल रहे थे। एक-एक कदम के साथ भावक्रिया एवं जागरूकता जुड़ी हुई थी। देखने वालों के लिए गमन-योग साकार बन रहा था। उस गमन-योग को प्रकारांतर से आदर्श प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए आचार्य भिक्षु ने कह दिया—भारीमल! तुम्हारे चलने की क्रिया में, इर्या समिति में यदि कभी कोई दोष निकाले तो तुम्हें तेला (तीन दिन का उपवास) करना है। वस्तुतः तेले करने के इस कथन के पीछे उद्देश्य कोई प्रायश्चित्त या जागरूकता की प्रेरणा का नहीं, असीम विश्वास की अभिव्यक्ति का था। आचार्य भिक्षु के अंतेवासी शिष्य भारीमलजी ने उस विश्वास को विस्तृत व्यवहार देते हुए एक निदर्शन प्रस्तुत किया। उन्हें जीवन में इस रूप में कभी तेला करने का अवसर न मिला। इसके विपरीत यदि कोई साधक चलने में सजग नहीं है, चलते समय बातचीत करता है, ध्यान इधर-उधर रहता है, तो अपने प्रमाद से ठोकर आदि खाकर वह स्वयं भी कष्ट भोगता है और समाज की अवहेलना का पात्र भी बनता है। कहा गया—

इर्या समिति मूल थी तिण में नहीं सचेत।
तिण साधु ने देख ने किण विध उपजै हेत।।

मुनि भारीमलजी का व्यक्तिगत आचार संघीय आचार को गरिमामय बनाने वाला था। जयाचार्य की एकाग्रता बाल्य-अवस्था में भी ऐसी थी कि सामने हो रहे नाटक की ओर भी आंख उठाकर उन्होंने नहीं देखा। स्पष्ट है कि यह संघीय नीवों को गहराने वाला आचार था। आचार की ऐसी सुदृढ़ता को देखकर एक व्यक्ति ने यह उद्घोषणा की थी कि **इस संघ के बाल-साधु भी इतने स्थिरयोगी हैं, तो इस संघ की नींव को सौ वर्षों तक तो कोई हिला नहीं सकता।**

भाषा ही हमारे व्यवहार का माध्यम है। संपर्क की अधिकांश दुनिया इसी पर निर्भर है। जो भाषा का सही समय पर सही ढंग से प्रयोग करता है, वह शब्दों की उपयोगिता व मूल्यवत्ता को पहचान लेता है। शब्दों के आधार पर व्यक्ति अपने भावों को आकार देता है, उन्हीं के आधार पर उसके आस-पास की दुनिया की सर्जना होती है।

बाईस वर्ष की युवा अवस्था में नए-नए संघीय दायित्व को कंधों पर लिए आचार्य तुलसी अपने प्रथम चातुर्मास के लिए गंगाशहर में प्रवेश कर रहे थे। रांगड़ी चौक आया, अचानक पता चला कि सामने से अन्य संप्रदाय के बड़े आचार्य अपने पूरे संघ-समाज के साथ आ रहे हैं। संभावना कह रही थी कि दोनों संघ आमने-सामने होंगे और रास्ते की व्यवस्था किसी भी रूप में अव्यवस्था में बदलते ही कोई भी दुर्घटना घटित हो सकती है। कौन किसको रास्ता दे? मान-अपमान की भी अनेक संभावनाएं वहां संभव थीं। उन सारी संभावित विषम परिस्थितियों को जड़-मूल से ही समाप्त करते हुए आचार्य तुलसी का एक स्वर उभरा—'हम अपना रास्ता मोड़ लेते हैं' और कदम मुड़ गए। यद्यपि तेरापंथ धर्मसंघ एक आचार्य की आज्ञा में चलने वाला धर्मसंघ हैं, आचार्य की आज्ञा को ही जीवन-

प्राण मानने वाले श्रावकों के भीतर भी उस समय भारी ऊहापोह था, पर आज्ञा से भिन्न दिशा में तो एक पत्ता भी हिल नहीं सकता था। आज्ञा का ही अनुसरण हुआ।

बीकानेर के तात्कालिक महाराज गंगासिंहजी की प्रतिक्रिया थी कि वय से छोटे होने पर भी आचार्यश्री तुलसी ने आज जिस समझदारी का परिचय दिया है, मैं नतमस्तक हूं। आचार्य तुलसी के इस निजी आचार ने संघीय आचार में चार चांद लगा दिए। संघ की गौरव गाथा सर्वत्र फैल गई। संघ व संघपति को सम्मान देने वाला स्वयं सम्मानित होता है, उनकी अवहेलना करने वाला स्वयं अवहेलित हो जाता है—इसका संवादी है यह सूक्त—

बात-बात प्रवचन-प्रवचन में, गण-गणपति रो नाम।
सुविनीतां री सरल कसौटी, दो चावल कर थाम।।

जहां केवल ग्रहण ही नहीं, ग्रहण के साथ देने का भाव भी जुड़ जाता है कि समाज से इतना लेते हैं, उसके बदले में हम क्या दे सकते हैं—आचार्य तुलसी के इस मनोभाव से ही अणुव्रत आंदोलन का जन्म हुआ। पं. जवाहरलाल नेहरू से मिलने जब आचार्य तुलसी अपने शिष्य समुदाय के साथ उनके भवन में गए तो नेहरूजी का पहला प्रश्न था—'आप मुझसे क्या चाहते हैं?' आचार्य तुलसी का जवाब था—'हम आपसे लेने नहीं, कुछ देने आए हैं।' अब चौंकने की बारी नेहरूजी की थी। उन्होंने पूछा—'आप क्या देने आए हैं?' आचार्यश्री तुलसी ने कहा—'हमारे पास चरित्र-निर्माण के कार्य में लगे लोगों का बड़ा संगठन है। मैं इसे देश-सेवा में समर्पित करने के लिए आया हूं।' आत्मविश्वास से भरे इस वाक्य का ही प्रभाव था कि अणुव्रत आंदोलन को व्यापक आकाश मिल गया। वह राष्ट्रव्यापी आंदोलन बन गया। आचार्यश्री तुलसी की प्रतिदिन की सोच ने जैन धर्म को जन धर्म, मानस धर्म का रूप दे दिया।

मर्यादा या व्यवस्था में व्यक्ति छोटा और बड़ा नहीं होता। मर्यादा ही सर्वोपरि होती है। मर्यादा का पालन और उसकी रक्षा ही आचारनिष्ठ व्यक्ति का जीवन-लक्ष्य होता है। तेरापंथ धर्मसंघ के इतिहास में मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। उनके जीवन के अनेक विलक्षण प्रसंगों में से एक प्रसंग इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। मुनि तुलसी जब आचार्यश्री तुलसी बने तब उनकी अवस्था थी बाईस वर्ष और मंत्रीमुनि मगनलालजी लगभग वृद्ध अवस्था में थे। आचार्यश्री तुलसी जैसे ही प्रवचन स्थल की ओर पधारने के लिए खड़े हुए, पास में ही खड़े थे मंत्रीमुनि। तत्काल अपना हाथ उसी शैली में आगे कर दिया जैसे पूज्य कालूगणी छोटे संतों के हाथ का आलंबन लेकर आगे पधारते थे। चूंकि कालूगणी अवस्था प्राप्त थे, घुटनों में दर्द की अपेक्षा से आलंबन लेकर चलने की बात को परिस्थितिवश स्वीकार भी किया जा सकता था, पर एक बाईस वर्षीय युवक आचार्य को किसी के हाथ का आलंबन लेकर चलने का औचित्य समझ से कुछ परे था। संभवतः नासमझी के कारण किसी के चेहरे पर तब कुछ स्मित-सी बिखरी। मंत्रीमुनि ने तत्काल संघीय संस्कारों व गुरु सेवा के प्रति सावचेत होने के प्रेरणाभरे स्वरों में कहा—'आचार्य तुलसी को मात्र बाईस वर्ष का आचार्य मत मानो। बाईस वर्ष तो इनके पास अपनी उम्र के हैं ही, साथ ही इन्हें अष्टमाचार्य पूज्य कालूगणी के 60 वर्ष भी अनुभव की थाती के रूप में प्राप्त हैं। इसीलिए इनकी उम्र बाईस वर्ष नहीं, बयासी वर्ष है।' मंत्रीमुनि के ये शब्द उनकी अपनी विनम्रता और गुरुभक्ति के सशक्त दस्तावेज तो हैं ही, साथ ही विनय और बहुमान के संघीय संस्कारों की नींव को गहराने वाले भी हैं।

जो व्यक्ति संघीय जीवन को स्वीकार करने के बाद भी अपनी चिंता में लगा रहता है, वह चिंताओं के चक्रव्यूह में ही सदा फंसा रहता है। उनसे उबरने का कोई रास्ता उसके लिए नहीं बचा रहता। संघीय जीवन विनय और वात्सल्य से जुड़ा जीवन है। शिष्य जब गुरु के प्रति समर्पित होता है, समर्पण के साथ ही अपनी सारी चिंताओं का दायित्व वह गुरु-चरणों में सौंप देता है। गुरु ही उसकी चिंता करते हैं।

लाडनूं में आचार्यश्री कालूगणी से बाल मुनि नथमल को आदेश मिला—मुनि तुलसी के लिए दवा लेकर आना है। तत्काल आदेश शिरोधार्य हुआ। ठंड की ओर कोई ध्यान ही नहीं गया और कदम बढ़ गए गंतव्य की ओर। थोड़ा ही समय बीता और पूज्य कालूगणी का ही ध्यान गया—मुनि नथमल दवा तो लेने गए हैं, पर ठंड का मौसम है, गरम वस्त्र ओढ़कर गए या नहीं! साधुओं ने देखा— उनका ओढ़ने का कंबल उनके स्थान पर ही पड़ा है। श्रीचरणों में निवेदन किया गया और तत्काल निर्देश मिला—कंबल लेकर सामने जाओ, ठंड लग जाएगी, सर्दी बहुत है। गुरु के द्वारा की गई चिंता सर्वात्मना समर्पण का प्रतिफल होती है।

समर्पण का मनोभाव व्यक्तिगत आचार के संदर्भ में पूर्णतया निश्चिंतता व निर्भार का मनोभाव है। गुरु के प्रति आश्वास-विश्वास को अभिव्यक्ति देता यह मनोभाव संघीय आचार को विकास के बहुआयामी क्षितिज प्रदान करने वाला

है। विनय और वात्सल्य, समर्पण और विकासमान सोच के आधार पर ही संघ गति, प्रतिष्ठा और साधना के आधार की अभिधा पाता है। आज्ञा, अनुशासन, मर्यादा का स्वीकार यहां स्वभाव बन जाता है। आज्ञा और अनुशासन को जीवन बनाने वाली साध्वी गुलाबांजी को यहां याद किया जा सकता है। वे बाल्य-अवस्था में ही दीक्षित हुईं। एक दिन जयाचार्य का निर्देश मिला—'इधर-उधर क्यों घूम रही हो? इधर एक स्थान पर बैठ जाओ।' आज्ञा की अनुपालना हुई। काफी समय बीत गया। आहार के समय ध्यान गया—साध्वी गुलाब कहां है? खोज की गई तो पता चला मंदिर में मूरत के समान निर्दिष्ट स्थान पर स्थिरयोगिनी बनी बैठी है। पूज्यवर ने बैठने का कहा था तो बिना कहे उठूं कैसे? अनुशासन के प्रति अनन्य समर्पण ही निजी जीवन के शुभ संस्कारों की अभिव्यक्ति करता है, आज्ञा के स्वीकार्य से ही संघीय संस्कारों का पल्लवन होता है।

समर्पण की भूमिका में शिष्य सदा ही गुरु के इंगित के अनुरूप वर्तन करने वाला होता है। व्यक्तिगत सुख-सुविधा या इस तरह की अन्य कोई बात उसके चिंतन का विषय ही नहीं बन सकती। तेरापंथ की साध्वी दीपांजी के जीवन से जुड़ा एक प्रसंग यहां उपयोगी होगा। जयाचार्यश्री की भावना थी—चित्तौड़ में चातुर्मास हो। चित्तौड़ तब श्रद्धा का क्षेत्र न होने से साधु-साध्वियों को चातुर्मास में दैनिक आवश्यकताओं के लिए भी भारी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है—यह स्पष्ट था। वहां चातुर्मास करने को कौन तैयार है? यह प्रश्न सुन सभी साधु-साध्वियों में मौन-सा छा गया। साध्वीश्री दीपांजी साहस कर खड़ी हुईं। चातुर्मासिक तप का संकल्प कर उन्होंने वहां चातुर्मास किया। समय के साथ लोग अनुकूल बनते गए। समय पर लिए गए उपयुक्त निर्णय ने साध्वी दीपांजी के नाम को तेरापंथ के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित करा दिया। गुरु के इंगित को समझ कर वर्तन करने की इस भूमिका ने व्यक्तिगत आचार के संदर्भ में साध्वीजी को 'इंगियागारी' बना दिया। संघीय आचार के संदर्भ में यह प्रसंग भारी प्रभावना का निमित्त बना। आज भी उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है।

संघ के संघीय सदस्यों के बीच एकत्व होता है। व्यक्ति का विकास संघ का विकास है। संघ का विकास व्यक्ति का विकास है। परस्परता से अनुस्यूत यह संबंध निजी आचार व संघीय आचार की अभिव्यक्ति करता है। मर्यादा महोत्सव आचार के निर्माण और विकास का आह्वान है। इसे स्वीकार कर आगे बढ़ने वाला सफलता के सोपानों को तय करता है। संघीय स्तर पर मनाए जा रहे इस महोत्सव का प्रवेश घर-घर में हो, सौहार्द और सामुदायिक चेतना का संचार होते देर न लगेगी। ❖

परार्थ व्याप्रतिवैयावृत्यं पृष्ठ 48 का शेष

ज्ञापित कर सेवार्थी को प्रोत्साहित करें। गुरुदेवश्री तुलसी ने लिखा—'मिला स्वल्प भी यदि कभी साधार्मिक सहकार। बड़ी कृपा की आपने बोलें वचन उदार।' 7. अहासुहं और इच्छाकार समाचारी का प्रयोग करें। सेवा करने वाले पर बड़प्पन आदि के आधार पर सेवा थोपें नहीं। 8. सेवा के क्षण नाजुकता के क्षण होते हैं। उन क्षणों में प्रीति या रागात्मक भाव भी आ सकते हैं। इसलिए सेवा ग्रहण करते हुए व सेवा देते समय ध्यान रहे कि कहीं भावुकता में न बह जाएं, अन्यथा सामूहिक जीवन में असमाधि हो सकती है।

सेवा : आत्मचिंतन

अपने-आप का मूल्यांकन करने के लिए कुछ बिंदु निम्नानुसार हो सकते हैं—1. क्या सेवा के प्रति मेरे चित्त में विशेष अहोभाव रहता है? 2. क्या मैं किसी की सेवा की उपेक्षा करती/करता हूं? 3. क्या सेवा के समय अपने-पराए, छोटे-बड़े, सम्मान्य-अल्पमान्य का भेद मन में आता है? 4. क्या सेवा के पीछे मूल्यांकन, यश, नाम आदि का भाव रहता है? 5. कोई मेरी सेवा की उपेक्षा करे, तब क्या विचार आते हैं? 6. सेवा लेते समय सेवार्थी के प्रति मेरे भाव कैसे रहते हैं? 7. दायित्व, स्वार्थ, संबंध और निर्जरा में से कौनसा भाव सेवा के समय प्रभावी रहता है? 8. गृहस्थों को सेवा करवाते समय क्या भाव रहता है?

इस प्रकार तेरापंथ की मर्यादाओं में आचार्यश्री भिक्षु से लेकर वर्तमान काल तक हम पाते हैं कि इस संघ में ग्लान साधु-साध्वियों की सेवा के लिए प्रत्येक साधु-साध्वी सदैव तत्पर रहता है। इस संघ की अनेक विशिष्टताओं में यह सर्वोत्कृष्ट विशिष्टता है। संघ के अधिशास्ता की नजर में भी ऐसे साधु-साध्वियों का विशेष स्थान है और समय-समय पर हर काल से आचार्यों की ओर से उनकी सेवाओं का यथोचित उल्लेख भी होता रहा है। मर्यादा महोत्सव के अवसर पर सेवा केंद्रों के बारे में विशेष पूछताछ और अधिशास्ताओं का उस ओर विशेष दृष्टिकोण ही संघ में इनके महत्त्व का द्योतक है। ❖

सूरज सिर पर चढ़ आया था। रास्ता रेतीला था। उसके पैर जल रहे थे। शरीर पसीने से लथपथ था। जीन का बोझ मन-भर हो गया था। गर्दन में गड़ने लगी थी। कभी एक कंधे पर रखता, कभी दूसरे पर। उसकी रकाब तवे-सी तप रही थी। जब किसी अंग से छू जाती, लगता लोहा दाग दिया है। उसके पास से एक चिड़िया उड़ती गई। कैसी मुक्त है? उसे अपनी बीवी का स्मरण हो आया। आराम से घर में होगी। नहाई होगी, सजी होगी, नौकरों पर हुक्म चला रही होगी, ठंडा शरबत पी रही होगी। उसे जलन हुई। उसे क्या पता, मुझ पर क्या बीत रही है। उसे क्रोध आ गया। उसके मुंह से निकला—'इस आग बरसती घाम में आराम से बैठी हो, इससे चिपक जाओ, तब जानो।'

एक महल एक झोंपड़ी

❑ गोपालदास

सांझ ढलने लगी थी। तारे झिलमिलाने लगे थे। सड़कों पर धुंधलका छाया था। वह देवदूत थका-मांदा था। बस्ती में कहीं रात बिताने का ठिकाना ढूंढ़ रहा था। एक बड़ी हवेली के सामने रुका। द्वार खटखटाया। एक बार, दो बार, कई बार। बहुत देर बाद भीतर से किसी ने पूछा—'कौन है?'

'एक राहगीर हूं।'

'क्या चाहते हो?'

'पट खोलिए तो!'

फिर वही प्रश्न—'क्या चाहते हो?'

'आप बाहर आएं तो बताऊं।'

सांकल खड़की। अधखुले द्वार से किसी ने झांका। हवेली का मालिक था। भौंहें चढ़ी थीं। स्वर उतावला था—'अब बोलो। क्या चाहते हो?'

'बहुत दूर से आ रहा हूं।'

'तो मैं क्या करूं?'

'रैनबसेरा चाहता हूं।'

'यह सराय नहीं है, मेरा घर है।'

'पौ फटते ही चला जाऊंगा।'

'हर राह-चलते उठाईगीरे को घर में जगह देने लगा तो मेरा ठौर-ठिकाना भी छिन जाएगा।'

'आप अमीर हैं। भगवान ने इतना-कुछ दिया है।'

'बड़े आए भगवान की दुहाई देकर ठगने वाले! चलो, चलो रास्ता नापो'। उसने फटाक से पट भेड़ लिए और भीतर से सांकल चढ़ा दी। देवदूत फिर सड़क पर खड़ा था।

हवेली के सामने एक झोंपड़ी थी। उजड़ी छत, झीनी फूस की दीवारें। प्रवेश पर एक छलनी हुई टाट की बोरी थी। भीतर एक ढिबरी टिमटिमा रही थी।

वह झोंपड़ी की ओर बढ़ा। पास जाकर पुकारा—'भीतर कोई है?

मटमैले वस्त्र पहने, चीकट ओढ़न लपेटे एक बूढ़ा बाहर निकला—'क्या चाहते हो, भाई?'

'बहुत दूर से आ रहा हूं। थक गया हूं। रात काटनी है। आप जगह देंगे?'

'क्यों नहीं! भीतर आ जाओ। आओ।'

बूढ़े के मीठे बोल में चंदन की शीतलता थी।

झोंपड़ी भीतर से साफ-सुथरी थी। एक कोने में

हल रखा था। दूसरे कोने में पुआल का गट्ठर। माझ की एक खटिया थी, कसी हुई। उस पर कथरी पड़ी थी। इने-गिने बरतन-भांडे थे, सब चमकते हुए। चूल्हा जल रहा था। बूढ़े की बीवी रोटी सेक रही थी। एक थाली में टिक्कड़, प्याज-लहसुन की चटनी और हरा साग परोसे हुए थे, बूढ़ा शायद भोजन के लिए बैठा ही था। उसने देवदूत से पूछा—'कुछ खाया भी नहीं होगा?'

'नहीं।'

'रूखा-सूखा जैसा है, आरोगो।'

बुढ़िया ने टोका—'उधर नांद में पानी भरा है। हाथ-मुंह धो लो। कुछ सुस्ता लो। मैं तवे पर पुए उतार देती हूं। भूभल में आलू भून दूंगी।'

बूढ़े की बत्तीसी खिल गई।

'भले आए भाई, हमारे भाग भी खुल गए', उसने जीभ से चटखारा लिया।

'पाहुने देवता होते हैं', बुढ़िया ने कहा।

देवदूत ने भरपेट भोजन खाया। सोने को उसे इकलौती खटिया दे दी गई।

बूढ़ा-बुढ़िया धरती पर पुआल बिछा कर पड़ रहे। पलक झपकते सवेरा हो गया।

देवदूत चलने की तैयारी करने लगा। विदा लेते समय बोला, 'आपको कष्ट दिया।'

'कष्ट कैसा भाई!'

'आपकी संगत से बड़ा सुख मिला। आपकी कोई इच्छा हो, कहें। पूरी होगी।'

'हमारे पास भगवान का दिया संतोष-धन है। हम उसी में मगन हैं।'

'आप कोई भी तीन वर मांगें।'

वे चुप रहे।

'बोलिए बाबा, कुछ तो मांगिए।'

बुढ़िया ने पहल की—'बेटा, हम सदा ऐसे ही मेल-प्यार में बने रहें।'

'ऐसा ही होगा। और?'

बुढ़े का भी मुंह खुला—'हम सदा स्वस्थ रहें, मेहनत-मजदूरी से कमाएं, किसी के आगे हाथ न फैलाएं। और हां, तुम जैसे पाहुने आएं तो उनकी सेवा करते रहें।'

'यह भी होगा। तीसरा?'

बूढ़ी जोड़ी की बांछें खिल रही थीं। सब तो मिल गया—सुख, स्वास्थ्य। वे एक-दूसरे को देख रहे थे। समझ में नहीं आ रहा था और क्या मांगें?

'मैं बताऊं?'

'हां, हां।'

'आपको रहने को एक घर नहीं चाहिए?'

'अपने ऊपर छत कौन नहीं चाहता भाई? पर गंगुआ तेली महल का सपना देखे तो...'

उसकी बात पूरी नहीं हुई थी कि झोंपड़ी लोप हो गई और उसके स्थान पर एक सुंदर-सी हवेली खड़ी थी। 'बाबा, आपका घर। भीतर पधारें। मुझे आज्ञा दें। मैं चलता हूं।'

दिन चढ़ने पर बड़ी हवेली के अमीर ने खिड़की खोली। सामने जो देखा तो विश्वास नहीं हुआ। आंखें मल-मल कर देखा। दृश्य वही था। रात ही रात में यह क्या जादू हो गया? कोई जिन आया था या देवदूत? बीवी आई। उसने भी देखा और दांतों तले उंगली दबा ली।

'वह झोंपड़ी कहां गई? यह हवेली कहां से आ गई?' दोनों एक-दूसरे से यही प्रश्न कर रहे थे। अमीर अधीर हो रहा था। बीवी से बोला—'जाकर पता तो लगाओ, यह अचंभा कैसे हुआ?'

वह दौड़ी गई। गरीब से पूछा। उसने सारी कथा सुना दी, तीन वर की बात भी। वह उल्टे पांवों लौटी। अमीर को बताया। वह सिर पीटने लगा। हाय-हाय कर रोने लगा।' 'हे भगवान, यह मैंने क्या किया। वह आदमी पहले हमारे घर आया था। रैनबसेरा मांग रहा था। फटेहाल देखकर मैंने उसे दुरदुरा दिया। दरवाजा बंद कर दिया। मैं उसे ठहरा लेता तो हम मालामाल हो जाते। मैं बड़ा अभागा हूं।'

'रोने-पीटने से क्या होगा?' बीवी ने झिड़का,

'वह अभी कितनी दूर गया होगा। लपको और उसे मना लाओ।'

'हां यही करूंगा, अभी। मैं उसके पैर पकड़ लूंगा।'

'और वह तीन वर मांगना न भूलना।'

वह कैसे भूल सकता हूं?

अमीर ने झटपट घोड़े पर जीन कसवाई और सरपट उसी दिशा में दौड़ा जिधर, गरीब ने कहा था, वह गया है। देवदूत बहुत दूर नहीं निकला था। धूप में तेजी आ गई थी। वह एक पेड़ की छांव तले सुस्ता रहा था। अमीर ने उसे दूर से ताड़ लिया। घोड़े के ऐड़ लगाई। देवदूत के सामने उतरकर उसके पैरों पर पड़ गया। गिड़गिड़ाने लगा—'महात्मा! मैं बड़ा पापी हूं। मैंने आपका अनादर किया। आप दुत्कारें, ठुकराएं, जो दंड दें, सिर माथे। बस, मुझे क्षमा कर दें। एक बार फिर मेरे घर पर चरणों की धूल डालें। मुझे सेवा का अवसर दें। आप घोड़े पर बैठें, मैं आपके पीछे पैदल चलूंगा।'

एक सांस में वह सब कह गया। देवदूत छल-कपट का यह नाटक समझ रहा था। मन ही मन मुस्करा रहा था। सोच रहा था, यह अमीर मुझे कैसा मूर्ख बना रहा है। वह बोला—'भाई, मैं अभी तो नहीं चल सकता। हां, जब इधर से लौटूंगा, तुम्हारे द्वार अवश्य आऊंगा। अब तुम जाओ।'

'आप बड़े कृपालु हैं महात्मा! मैं धन्य हुआ।'

अमीर उठा नहीं। हाथ जोड़कर देवदूत के सामने बैठा रहा। देवदूत इसका भेद जानता था।

'तुम भी तीन वर चाहते हो?'

'आपकी कृपा होगी तो–'

'जो चाहोगे, मिलेगा, जाओ, घर जाओ। बीवी तुम्हारी बाट जोह रही होगी।'

अब अमीर घर के लिए रवाना हुआ। उसके मन में लड्डू फूट रहे थे। सोना-चांदी, हीरे-मोती, महल-दुमहले, बाग-बगीचे, सब उसके होंगे, मुंह से निकलने-भर की देर है। घर पहुंचने से पहले वह तीनों वर मांग लेना चाहता था। उसे डर था, कहीं बीवी टांग न अड़ा दे। वह अपने विचारों में इतना खोया था कि उसके हाथ से लगाम छूटकर नीचे लटक गई। उसे खींचने वह झुका ही था कि पास के जंगल में शेर दहाड़ा, डर से बिदक कर घोड़ा उछला। लगाम उसकी टांगों में उलझ गई। उससे अड़चन हुई तो वह और उछल-कूद करने लगा। अमीर ने उसे बहुत थपथपाया, पुचकारा। घोड़ा न शांत हुआ, न वश में। अमीर घबराया। कहीं गिर कर उसकी हड्डी-पसली न टूट जाए। वह क्रोध में भरकर चिल्लायाः 'अच्छा हो, मुझे मारने से पहले तू मर जाए।'

घोड़ा वहीं ढेर हो गया।

अमीर का एक वर पूरा हुआ। अमीर बड़ा लालची था। जीन उसने चाव से बनवाई थी। सैकड़ों रुपये लगे थे। उसे कैसे छोड़ जाता? तसमे ढीले किए। जीन खोली। अपने कंधे पर लादी और चलने लगा।

उसे एक वर बेकार जाने का पछतावा हुआ, किंतु दो अभी शेष थे। अब चूक नहीं होगी। वह फिर विचारों में डूब गया।

सूरज सिर पर चढ़ आया था। रास्ता रेतीला था। उसके पैर जल रहे थे। शरीर पसीने से लथपथ था। जीन का बोझ मन-भर हो गया था। गर्दन में गड़ने लगी थी। कभी एक कंधे पर रखता, कभी दूसरे पर। उसकी रकाब तवे-सी तप रही थी। जब किसी अंग से छू जाती, लगता लोहा दाग दिया है। उसके पास से एक चिड़िया उड़ती गई। कैसी मुक्त है? उसे अपनी बीवी का स्मरण हो आया। आराम से घर में होगी। नहाई होगी, सजी होगी, नौकरों पर हुक्म चला रही होगी, ठंडा शरबत पी रही होगी। उसे जलन हुई। उसे क्या पता मुझ पर क्या बीत रही है! उसे क्रोध आ गया। उसके मुंह से निकला—'इस आग बरसती घाम में आराम से बैठी हो, इससे चिपक जाओ, तब जानो।'

जीन अमीर के कंधे से लोप हो गई। उसका दूसरा वर पूरा हुआ। उसे फिर पछतावा हुआ, पहले से अधिक। लेकिन, अभी एक वर शेष था। उसने निश्चय किया कि घर पहुंचकर, ठंडे दिल से सोचकर, एक ही वर में अपने सब मनोरथ पूरे कर लेगा।

जीन के बोझ से हल्का होने से उसके पैरों में तेजी

आ गई। अनेक इच्छाएं उसके मन में उमड़ रही थीं। उसे इधर-उधर की सुध-बुध नहीं थी।

सहसा उसे चीख सुनाई दी, 'मुझे बचाओ, बचाओ, बचाओ। मैं जल रही हूं।'

वह चौकन्ना हुआ। आंख उठाई। अपने घर के सामने खड़ा था। घर में हाहाकार मचा हुआ था। उसे भेदती यह चीख थी।

'अरे, जब तक वह आएंगे, यह भट्ठी-सी जीन मेरे प्राण ले लेगी, मैं राख हो जाऊंगी।'

सारी सचाई अमीर के मन में कौंध गई। वह लपककर घर में घुसा। बीवी बेहाल हो रही थी।

'तुम आ गए। यह नासपीटी जीन कहां से आकर मुझसे चिपक गई है। छूटती ही नहीं। इसमें अंगारे सुलग रहे हैं। कुछ तो करो। मुझे बचाओ।'

'शांति रखो, शांति। सब ठीक हो जाएगा। मुझे वह महात्मा मिल गया। पहले मैं अपना वर मांग लूं। सारा कुबेर का धन मिल सकता है। बस, थोड़ी देर सबर करो।'

बीवी बिफर उठी।

'मेरी जान सांसत में पड़ी है और तुम कहते हो, सबर करूं। मैं राख हो रही हूं और तुम्हें कुबेर का धन सूझ रहा है। धिक्कार है! तुम्हारा ही पाप मैं भुगत रही हूं। मैं मर गई तो तुम सुख से नहीं रहोगे।'

अमीर बेबस हो गया।

बीवी को जीन से छुटकारा दिलाने के लिए उसे तीसरा वर मांगना पड़ा। जीन से मुक्ति पाते ही बीवी ने चैन की सांस ली। अमीर सिसक रहा था। उसके सपने चूर-चूर हो गए थे।

वह करमहीन रहा। ❖

—एक यूरोपीय कहानी के आधार पर संक्षिप्तीकरण

शिरसि गुरुपाद प्रणमनम् पृष्ठ 28 का शेष

से निकलने वाली उज्ज्वल रश्मियों से शिष्य के शरीर का अणु-अणु आलोकित हो जाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरणों की संरचना अलौकिक है। दर्शक जब प्रथम बार उनका साक्षात्कार करता है, उसे उनके चरणों में सूजन की प्रतीति होती है। शारीरिक परीक्षण करते समय बहुत बार चिकित्सकों और वैद्यों को भी भ्रम हो जाता है। बहुधा महाप्रज्ञजी से पूछा जाता है—क्या आपके पैरों में सूजन है? वे उत्तर देते हैं—सूजन नहीं, पैरों की बुनावट ही ऐसी है। इस प्रकार के पैरों की निर्मिति देखकर राजस्थानी कहावत का स्मरण हो जाता है—'बड़ा पैर कपूत का'। महाप्रज्ञ ने इस कहावत को बदल दिया। अपने सघन पुरुषार्थ और गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पण से यह प्रकट कर दिया कि सपूत का भी बड़ा पैर हो सकता है।

जैन साहित्य में तीर्थंकरों के अतिशय का वर्णन मिलता है। वहां बताया जाता है कि तीर्थंकर जहां चरण रखते हैं वहां स्वर्णिम पुष्पों की स्वतः रचना हो जाती है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में यौगलिकों का वर्णन उपलब्ध होता है। वहां उनके नख-शिख तक के अवयवों का उल्लेख किया गया है। चरण के संदर्भ में वहां निरूपण किया गया है—'सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणां'। यौगलिकों के चरण कूर्म की तरह सुंदर होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरण भी कूर्म की तरह उन्नत दिखाई देते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व काठमांडू से एक योगी आए। उन्होंने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरणों को गौर से देखा और कहा—काठमांडू के एक मंदिर में श्रीराम की प्रतिमा है और उस प्रतिमा में जैसे चरण उत्कीर्ण हैं, वैसे ही चरण आपके हैं। ऐसे विलक्षण चरण अन्यत्र नहीं देखे।

जैन दर्शन के व्यांख्याता डॉ. दयानन्द भार्गव ने आचार्य महाप्रज्ञ के चरणों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'आचार्य महाप्रज्ञ ने सघन और दीर्घकालीन साधना के द्वारा शरीर को पारदर्शी बनाया है। उस पारदर्शिता के कारण उनके चरणों का दर्शन करते समय व्यक्ति आत्मदर्शी बन जाता है।'

महाप्रज्ञ चरण महिमा कितने ही रूपों में प्रकट होती है। ❖

With best compliments from :

INA

Authorised Distributor

It has been our endeavor to get you the quality products & services at better price level and the marketing arrangement we have with INA and FAG on All India basis gives the chance to further that, providing better value for your money.

- **FAG Star Distributor**
- **FAG Industrial Distributor**
- **INA Authorised Distributor**

FAG

Premier (India) Bearings Ltd.
Kolkata

We congratulate you for being positioned within FAG as

Star Distributor - 2004

in view of your business contracted for year 2004.

We wish you all success in accomplishing greater strides.

FAG Kugelfisher AG

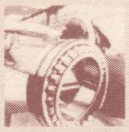

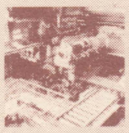

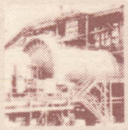

Star Distributor

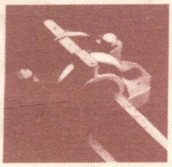

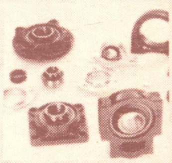

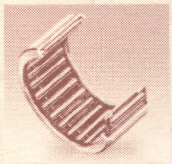

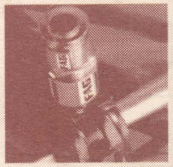

Premier (India) Bearings Ltd.

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata - 700 001. Phone : 22200640/22201926 Fax : 22485745 E-mail : pibl@vsnl.com

Authorisation is valid for supplies on all India basis :

Chandigarh Office :
SCO 41, 2nd Floor, Sector-20-C
Chandigarh - 160 020
Phone : 272 2287
Fax : (0172) 272 2287
E-mail : pibchd@indiatimes.com

Chennai Office :
83 (Old No. 41), Armenian Street
Chennai - 600 001
Phone : 2524 6911/6892/3727
Fax : (044) 2522 8612
E-mail : piblchennai@vsnl.com

Delhi Office :
2423/29, Surekha Building,
G. B. Road, 3rd Floor, Delhi - 6
Phone : 2321 7109,
Fax : (011) 2321 0276
E-mail : pibdel@indiatimes.com

Ludhiana Office :
BXXI 14651, Dholewal Chowk
Ludhiana - 141 003, Punjab
Phone : 2547524/525
Fax : (0161) 2547526
E-mail : rajvinder@pibldh.com

Mumbai Office :
Vashi Plaza, Ground Floor, Sector 17,
Navi Mumbai - 400 705
Phone : 2789 4595/6897
Fax : (022) 2789 6816
E-mail : pibvashi@bom8.vsnl.net.in

जैन भारती, फरवरी, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर / 11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।